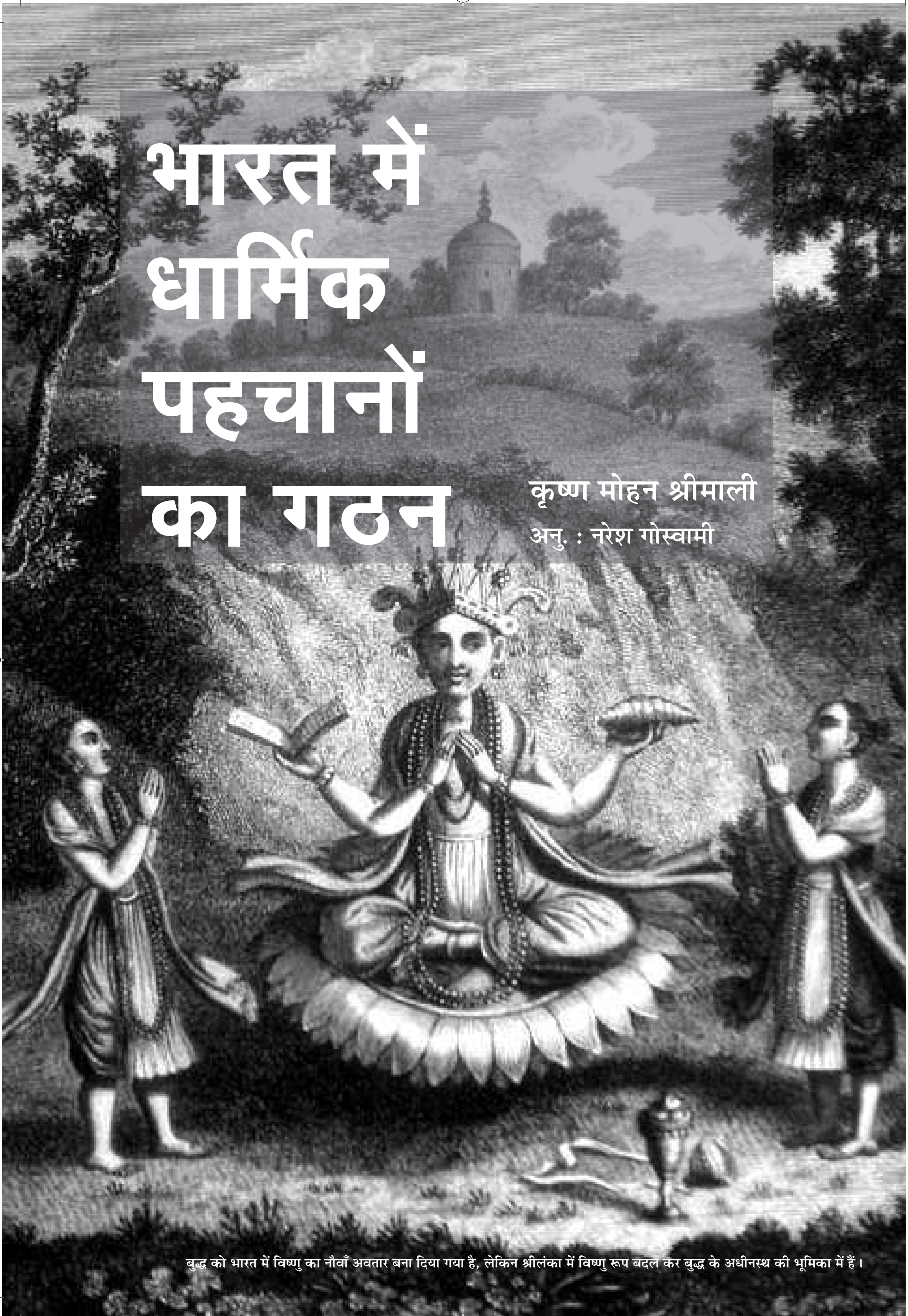
भारत में धार्मिक पहचानों का गठन

कृष्ण मोहन श्रीमाली

अनु. : नरेश गोस्वामी



बुद्ध को भारत में विष्णु का नौवाँ अवतार बना दिया गया है, लेकिन श्रीलंका में विष्णु रूप बदल कर बुद्ध के अधीनस्थ की भूमिका में हैं।

मैं पश्चिम बंग इतिहास संसद की कार्यकारी परिषद् का कृतज्ञ हूँ कि उसने मुझे मुख्य वक्ता होने का गौरव प्रदान किया है। ईमानदारी से कहूँ तो मुझे यह सम्मान न केवल अप्रत्याशित लग रहा है बल्कि मुझे ऐसा भी महसूस होता है कि मैं इसका उचित पात्र नहीं हूँ। बंगाल के इतिहास-लेखन में मेरा कोई योगदान नहीं रहा है। हाँ, प्राचीन भारत के इतिहास-लेखन में मैंने पांचालों के विषय में एक शोध-ग्रंथ की रचना की थी। इसमें मैंने लघु-क्षेत्रीय इतिहास को उत्तर भारत के बृहद् इतिहास के समक्ष रखने का एक विनम्र प्रयास किया था। मुझे लगता है कि इस संसद के कर्ताधर्ताओं ने शायद इसी कारण मुझे यह सम्मान प्रदान करने का निर्णय लिया है। मैं यह बात लगातार महसूस करता रहा हूँ कि पिछले वर्षों के दौरान क्षेत्रीय इतिहास से संबंधित इसी रचनाशीलता ने संकीर्णता और ख़ेमेबंदी से बच कर 'बाहरी' तथा मुझ जैसे 'अन्य' लोगों के लिए अपने द्वार खुले रखे हैं। निस्संदेह, इस परीक्षा में पश्चिम बंग इतिहास संसद का प्रदर्शन विलक्षण रहा है। लिहाज़ा, यह बहुत अचरज की बात नहीं है कि आज यह संस्था अपने जीवन के चौथे दशक में प्रवेश कर चुकी है और आज भी पूरे उत्साह से काम कर रही है।

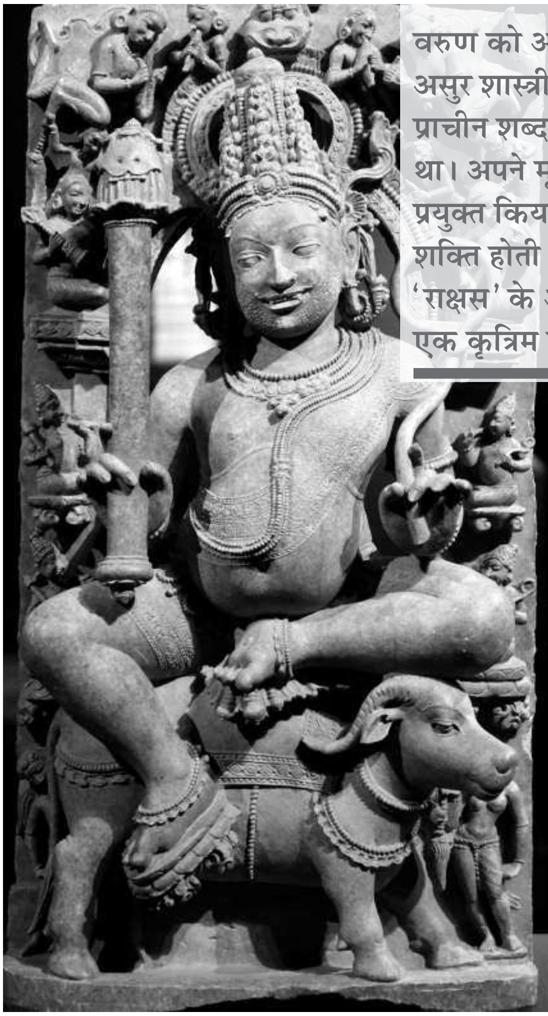
I

इतिहासकार की दृष्टि

पिछली आधी सदी या उससे कुछ ज़्यादा समय से मैं एक विद्यार्थी, अध्यापक और जन-इतिहास के लेखन में भागीदार की भूमिका निभाता रहा हूँ। इस दौरान मैं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं और लगभग सभी अकादमिक अनुशासनों के सीमांतों के विस्तार का साक्षी रहा हूँ। समाज-विज्ञानों के बृहत्तर परिदृश्य में एक अनुशासन के तौर पर इतिहास भी इस परिवर्तन का अपवाद नहीं रहा है। अपने चार दशकों से कुछ ज़्यादा के अध्यापक-जीवन में मैंने स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों को कई तरह के पाठ्यक्रम पढ़ाए हैं। लेकिन इनमें से एक पाठ्यक्रम जिसे मैं स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाया करता था आज भी मेरे साथ जुड़ा है। वह पाठ्यक्रम प्रारम्भिक भारत के धार्मिक विकास से संबंध रखता था। आज के विषय— 'भारत में धार्मिक पहचानों का गठन' का औचित्य शायद यहीं से निकलता है। मेरी इस प्रस्तुति को मई, 2014 में हमें सदा के लिए छोड़ कर चली जाने वाली प्रोफ़ेसर सुकुमारी भट्टाचारजी के प्रति एक श्रद्धांजलि भी माना जा सकता है। व्यक्तिगत तौर पर मुझे उनसे कभी मिलने या उन्हें जानने का मौक़ा नहीं मिल सका। लेकिन उनके प्रचुर लेखन के आधार पर मैं इतना जानता हूँ कि वे एक ही साथ सब कुछ थीं— संस्कृतविद्, प्राच्यवाद की अध्येता, खुले रुझान की मार्क्सवादी और ईसाई। मुझे पता नहीं है कि अपनी इतनी पहचानों में वे किस पहचान को ज़्यादा महत्त्व देती थीं और उन्हें किस क्रम में रख कर देखती थीं। निश्चय ही इस जटिल मुद्दे पर मैं कोई फ़ैसला सुनाने की जुर्रत नहीं करूँगा।

बहरहाल, कुछ दशक पहले की बात है थॉमस कोबर्न ने दिल्ली में *देवी माहात्म्य* पर एक व्याख्यान दिया था। *देवी माहात्म्य* के विलक्षण अध्ययन के लिए कोबर्न एक जाना-पहचाना नाम हो चुके थे।[1] अपने व्याख्यान में कोबर्न ने भारतीय विश्वविद्यालयों में धर्म और धर्मशास्त्रीय अध्ययनों के लिए स्वतंत्र विभाग न होने पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। मैंने उनकी इस आपत्ति का प्रतिवाद करते हुए कहा था कि ज्ञानार्जन के ऐसे संकीर्ण केंद्रों से सम्प्रदायवाद, रूढ़िवाद तथा 'श्रेष्ठता-बोध' को बढ़ावा मिलेगा। यह नवें दशक के शुरुआती दौर की बात है। तब तक प्रारम्भिक भारत के जिन धर्मों के पाठ्यक्रम मैं पिछले दो दशकों से पढ़ाता आ रहा था, एक निश्चित रूप ग्रहण कर चुके थे। दिल्ली

[1] थॉमस बी. कोबर्न (1984).



असुरों में श्रेष्ठ वरुण

वरुण को असुरों में श्रेष्ठ बताया गया है। ... वैदिक शब्द असुर शास्त्रीय संस्कृत के सुर (देवता) शब्द से ज़्यादा प्राचीन शब्द था और उसे सुर का प्रतिलोम नहीं माना जाता था। अपने मूल अर्थ में असुर एक ऐसी शख़्सियत के लिए प्रयुक्त किया जाता था जिसके पास सबसे ज़्यादा जादुई शक्ति होती थी। यह बाद की बात है जब इस शब्द पर 'राक्षस' के अर्थ का आरोपण किया गया और सुर नामक एक कृत्रिम शब्द की रचना की गयी।

विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के पाठ्यक्रम का भाग होने के कारण इन पाठ्यक्रमों में तत्त्वज्ञान या विभिन्न धर्मों की 'शिक्षा और सिद्धांतों' पर ज़ोर देने के बजाय यह रेखांकित करने की कोशिश की जाती थी कि अलग-अलग ढंग के समाजों में लोगों की धार्मिकता कैसे-कैसे रूप धारण करती है। इतिहासज्ञ धर्म की परिघटना का इसी दृष्टि से अध्ययन करता है। लिहाज़ा, इस पाठ्यक्रम में समय और स्थान/स्पेस के संदर्भ को सामने रखते हुए दो बुनियादी बातों पर ज़ोर दिया जाता था :

(1) जिस तरह मनुष्य का ज्ञात इतिहास डार्विन द्वारा प्रतिपादित 'उत्परिवर्तन' (इवोल्यूशन) के सिद्धांत की पुष्टि करता है, उसी तरह अपने हज़ारों वर्षों के अस्तित्व के दौरान मनुष्य द्वारा व्यवहृत धर्म भी परिवर्तन के दौर से गुज़रते रहे हैं। भारतीय मिथकों (सभी धर्मों के) में 'विचारों' तथा 'दैवीयता' का संसार डार्विन की इस धारणा को सही साबित करता है कि दुनिया में 'सबसे सबल ही जीवित' रह पाता है। यहाँ मैं प्रोफ़ेसर भट्टाचारजी का स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने लिखा था कि 'भारतीय मिथक-शास्त्र कोई जड़ चीज़ नहीं था। उसे मन की मौज नहीं कहा जा सकता था; वह लोगों के आध्यात्मिक आवेग और उनकी ज़रूरतों से जुड़ा था। इन मिथकों में लोग अपने सबसे सघन स्वप्नों, उम्मीदों और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब देखते थे ... देवताओं का संसार अपने प्रारम्भ से ही निरंतर टकराव और द्वंद्व का परिणाम रहा है ... इसमें जो देवता जीवन और अनुभव के बृहत्तर हिस्सों का प्रतिनिधित्व कर सके; ज़्यादा ताक़त और महत्त्व अर्जित कर सके; और बाद में अपनी बेहतर क्षमताओं या शक्तियों के बल पर अन्य देवताओं को हथिया सके, उनका क़द तो बढ़ता चला गया जबकि शेष देवता धूमिल पड़ते गये'।[2] 'विचारों' और 'दैवीयता' के उत्थान,

[2] सुकुमारी भट्टाचारजी (1970) : 12-13.

पतन और परिवर्तन का यह ढर्रा सभी धर्मों के अनुयाइयों और उपासकों पर लागू होता है। 'दैवीय संसार' के वास्तविक रचनाकार अपनी स्थानिक या मानसिक बनावट में कभी एकाश्मिक नहीं रहे हैं।

(2) हम 'धर्म के क्षेत्र' की 'स्वायत्तता' को नहीं मानते और उसे 'सामाजिक व्यवस्थाओं' के एक अभिन्न घटक की तरह देखते हैं। इसलिए हम यह चिह्नित करने में सफल रहते हैं कि 'धार्मिक पहचानों' के निर्माण में कई तरह के घटक काम करते हैं। इससे पहले कि कोई भारतीय मिथक-शास्त्र की इस जीवंतता में निहित पूर्वोक्त प्रक्रिया से यह निष्कर्ष निकालने लगे कि किसी भी देवता के 'जीवित रहने की क्षमता' और 'योग्यता' उसकी भौतिक शक्ति पर निर्भर करती थी, मैं यह रेखांकित करना चाहूँगा कि देवताओं की इस उत्तर-जीविता की कार्य-प्रणाली को मैं कुछ अलग ढंग से देखता हूँ। हमारी समझ यह है कि हज़ारों वर्षों के इतिहास में लोगों की धार्मिकता ने जो शक़्ल-सूरत अख़्तियार की है उसमें भौतिक स्थितियों का घटक सबसे निर्णायक रहा है। साधारण लोगों के दैनिक जीवन में ऐसी बातें क्या महत्त्व रखती हैं, इसका पता हमें तब चला जब हम (सितम्बर, 2014) टोरंटो (कनाडा) स्थित बाटा के जूता-संग्रहालय में गये। हम यह आशा करके चले थे कि संग्रहालय में हमारे बचपन की चिरपरिचित और अच्छे जूते बनाने वाली बाटा कम्पनी का इतिहास दर्शाया गया होगा, लेकिन संग्रहालय की तीन मंज़िलों पर रखी गयी चीज़ों से पता यह चला कि शिकारियों, भोजन-संग्राहकों और खेतिहर लोगों के जूतों के आकार-प्रकार में जलवायु, भौगोलिक लक्षणों, पारिस्थितिकी, पर्यावरण और अन्य भौतिक स्थितियों के अनुसार क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं। शिकारियों के जूते देखने पर हमें यह ज्ञात हुआ कि उनके जूतों का आकार-प्रकार शिकार किये जाने वाले पशुओं के स्वभाव और विशेषताओं से तय होता था। यह एक ऐसा सबक़ था जो हमें यह बताता था कि सामान्य लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया में भौतिक घटकों की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण होती है। असल में, धार्मिक विमर्श उन सामाजिक प्रक्रियाओं का प्रतिबिम्ब होता है जिनमें मनुष्य का प्रकृति के विरुद्ध चलने वाला संघर्ष और समायोजन भी शामिल रहता है। चूँकि हम इस बात को काफ़ी अहमियत दे रहे हैं कि 'अदृश्य शक्ति को सामान्यतः ईश्वर मान लेने' का 'विचार' मानवीय मस्तिष्क की प्रतिभा का परिणाम होता है, इसलिए हम यह तर्क भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'भौतिक चीज़ों के आगमन' के पीछे भी मानव की सचेतन गतिविधियाँ काम कर रही थीं।[3]

धार्मिक पहचानों के गठन की इस गतिकी को समझने के लिए हम कुछ ऐसे ही व्याख्यापरक उदाहरणों पर ग़ौर करेंगे। चूँकि यहाँ हम लगभग चार हज़ार वर्षों में पसरे सामान्य युग पूर्व की लगभग दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ से लेकर आज तक के ऐतिहासिक समय के एक विशाल फ़लक को समेटना चाहते हैं, इसलिए हम विषय पर विस्तारपूर्वक विचार न करके कुछ निश्चित और ख़ास उदाहरणों के ज़रिये ही बात करेंगे।

II

इंद्र एवं वरुण

इस आख्यान की शुरुआत लयात्मक दृष्टि से विलक्षण, काव्य के उच्च-स्तरीय तत्त्वों से भरपूर और साहित्य की प्राचीनतम पुस्तक *ऋग्वेद* से करें। *ऋग्वेद* एक ऐसी रचना है जिसे केवल इन्हीं लक्षणों के आधार पर मनुष्यता के इतिहास की असाधारण रचना कहा जा सकता है। लिहाज़ा, यह बहुत

[3] मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद बनाम वेबर के 'धार्मिक एंकोरेज' तथा मर्सिया ऐलियाडे की 'आनुभविक' पद्धति जिसके अंतर्गत धार्मिक विचारों और व्यवहारों के अध्ययन हेतु 'धर्म की स्वायत्तता' पर विशेष ज़ोर दिया जाता है तथा धर्म को मनुष्य के विचारों और 'भौतिक परिस्थितियों' का स्वतंत्र 'निर्धारक' माना जाता है। इन पक्षों की विस्तृत समझ के लिए देखें, कृष्ण मोहन श्रीमाली (2012) : 86-133. 'धर्म की स्वायत्तता' के प्रति मेरी यह असहमति 'मानवीय चेतना' की स्वायत्त भूमिका से अलग करके देखी जानी चाहिए. यह एक ऐसा विषय है जिस पर अलग से चर्चा की जा सकती है.

आश्चर्य की बात नहीं है कि यूनेस्को ने 2007 में इसे विश्व-धरोहर घोषित किया था और भण्डारकर ऑरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट (पुणे) में रखी इसकी तीस पाण्डुलिपियों को वर्ल्ड रजिस्टर की स्मृति में शामिल किया गया था। सामान्य युग पूर्व 1800 से 1000 के बीच रचे गये इस संग्रह के प्रचलित रूप में एक हज़ार से ज़्यादा सूक्त और कोई दस हज़ार से ज़्यादा पद्य संकलित हैं। यह चरागाही लोगों के विश्व-बोध का एक विलक्षण दस्तावेज़ है। आम तौर पर यह माना जाता है कि 'सप्तसिंधु'— *ऋग्वेद* की सात नदियों के विशिष्ट परंतु अत्यंत विरल उल्लेख के बावजूद इसकी भौगोलिक सीमाएँ पश्चिमोत्तर क्षेत्र में आधुनिक अफ़गानिस्तान से लेकर पूर्व में पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक फैली थीं। *ऋग्वेद* में गंगा का उल्लेख यदा-कदा ही मिलता है, लेकिन अनुमान लगाया जाता है कि *ऋग्वेद* के भूगोल में गंगा उसके सबसे पूर्वी सीमांत की ओर इंगित करती थी। ऋग्वैदिक समुदाय के भूगोल में जम्मू-कश्मीर, विभाजन-पूर्व के पंजाब तथा राजस्थान आदि शामिल थे, लेकिन गुजरात से उनका विशेष परिचय नहीं था। पुरातात्विक अवशेषों से पता चलता है कि सम्भवत: बल्ख़ से लेकर सात नदियों तक फैला क्षेत्र भी *ऋग्वेद* के भूगोल का हिस्सा था।[4] यह एक सर्वविदित तथ्य है कि *ऋग्वेद* के स्तुति-गीतों में उल्लिखित अनेकानेक देवताओं में इंद्र की उपस्थिति सबसे उल्लेखनीय थी। *ऋग्वेद* के लगभग 250 सूक्त (मंत्र) (25 प्रतिशत से अधिक) इंद्र को समर्पित किये गये हैं। वर्षा के देवता के रूप में इंद्र अन्य देवताओं की भाँति प्रकृति के मानवीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। *ऋग्वेद* में इंद्र को अनेक उपनामों से सम्बोधित किया गया है, परंतु उन्हें सबसे ज़्यादा गोपति के नाम से जाना जाता है। यह नाम विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि *ऋग्वेद* के काल में पशु ही प्रमुख धन-सम्पत्ति माने जाते थे।[5] यही गोपति हमारे सामने इंद्र शुनासीर (हलधर इंद्र) के रूप में आकर राजसूय यज्ञ से जुड़े कर्मकाण्डों की उस श्रृंखला के भव्य समापन का अधिष्ठाता बनता है, जिसका उद्देश्य 'उर्वरता की समाप्तप्राय: शक्तियों को पुन: सिंचित करना' था।[6] यह रूपांतरण उत्तर-वैदिक संहिताओं के समय (सामान्य युग पूर्व 1000 से 500) में घटित होता है जब गंगा घाटी में खेती का प्रसार हो रहा था। इसके कुछ समय पश्चात्, सामंती परिवेश (वर्तमान युग की तीसरी शताब्दी के पश्चात्) की शताब्दियों के दौरान इंद्र के विभिन्न उपनामों की सूची में भूपति (भू-स्वामी) और देवराज (राजाओं के राजा) जैसे नाम और जुड़ जाते हैं। प्राक् मध्ययुगीन शताब्दियों में वे केवल अपने इंद्रलोक और सुंदर अप्सराओं तक सीमित होने लगते हैं और संस्कृत पुराणों में अपने लम्पट व्यवहार के लिए कुख्यात होने लगते हैं। इसके बाद ब्राह्मण कुल के देवता के रूप में उनकी स्मृति क्षीण पड़ने लगती है। हाँ, ग़ैर-ब्राह्मण परम्पराओं में इंद्र का अस्तित्व तो बचा रहता है परंतु उनमें उनका स्मरण अलग ढंग से किया गया है। बौद्धों के प्रारम्भिक आख्यानों में उन्हें सक्क कहा गया है। इन आख्यानों में उन्हें लगभग हमेशा देवानम् इंदो (देवताओं का मुखिया या राजा) के नाम से सम्बोधित किया गया है। ऐसे स्रोत उन्हें उदात्त व्यक्तित्व के रूप में चित्रित न करके तीन दुर्गुणों— कामुकता, दुर्भावना और मूर्खता से ग्रस्त बताते हैं। सक्क सुंदरता पर मोहित रहता था।[7] दिगम्बरी जैन स्रोतों में तीर्थंकरों के जन्म पर होने वाले उत्सवों में उसे अन्य देवताओं का नेतृत्व करते दिखाया गया है। जैन मान्यताओं और लोक-व्यवहार में 'नृत्यरत इंद्र' की उपस्थिति एक स्थायी कथानक की तरह रहती है। प्रोफ़ेसर बी.एन. गोस्वामी ने हाल में सम्भवत: औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से प्राप्त वर्तमान युगीन 1700 के पंचकल्याणक पट्ट (1200 × 80 सेंटीमीटर) की ओर ध्यान दिलाया है। 'नृत्यरत इंद्र' के इस मनोहारी

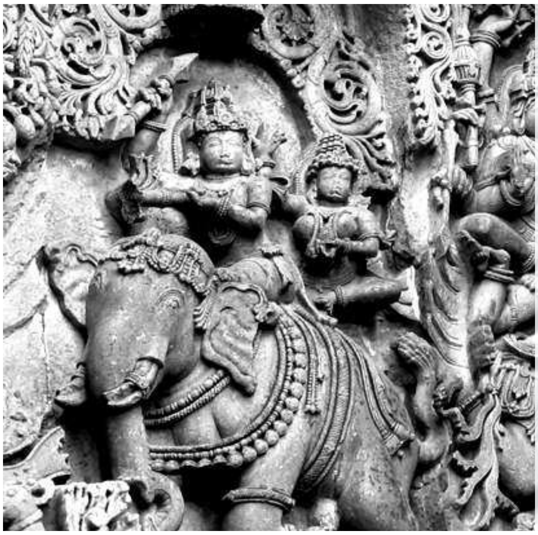
---

[4] *ऋग्वेद* में एक स्थान पर 'सप्तसिंधु' का उल्लेख मिलता है, *ऋग्वेद*, VIII, 24.27. 'सात नदियों' के तथाकथित उद्धरण जहाँ-तहाँ बिखरे मिलते हैं. उनकी वर्तमान नदियों से तुलना करना या उन्हें उनके सदृश समझना एक विवादास्पद और अंतर्विरोधी मसला है. कई दफ़ा इन नदियों में सरस्वती जैसी बहु-प्रशंसित नदी भी शामिल कर ली जाती है और उसका स्थान अफ़गानिस्तान में निर्धारित कर दिया जाता है.

[5] कृष्ण मोहन श्रीमाली (2002) : 28-29.

[6] जे.सी. हीस्टरमैन (1957) : 222-23.

[7] रीस डेविड्स का विचार था कि सक्क और इंद्र दो अलग-अलग संकल्पनाओं की ओर इंगित करते थे. तुलनीय जी.पी. मलालसेकेर (1960) : खण्ड 2 : 965.



ऐरावत पर आरूढ़ इंद्र

बौद्धों के प्रारम्भिक आख्यानों में उन्हें (इंद्र को) सक्क कहा गया है। इन आख्यानों में उन्हें लगभग हमेशा देवानम् इंदो (देवताओं का मुखिया या राजा) के नाम से सम्बोधित किया गया है। ऐसे स्रोत उन्हें उदात्त व्यक्तित्व के रूप में चित्रित न करके तीन दुर्गुणों— कामुकता, दुर्भावना और मूर्खता से ग्रस्त बताते हैं। सक्क सुंदरता पर मोहित रहता था। दिगम्बरी जैन स्रोतों में तीर्थंकरों के जन्म पर होने वाले उत्सवों में उसे अन्य देवताओं का नेतृत्व करते दिखाया गया है।

अंकन में इंद्र के दोनों ओर बीस-बीस हाथ दिखाए गये हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इस चित्रण में इंद्र के हाथ कंधों के बजाय कुहनियों से निकलते दिखाए गये हैं।[8]

अभी हम चूँकि *ऋग्वेद* पर बात कर रहे हैं इसलिए यहाँ वरुण का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा। वरुण को असुरों में श्रेष्ठ बताया गया है। अगर *ऋग्वेद* के इंद्र एक छोर पर स्थित थे तो उसमें वरुण दूसरे छोर पर खड़े थे। यह भी सम्भव है कि वरुण किसी अन्य समुदाय के देवता रहे हों। भाषा-विज्ञान का यह एक बहुपरिचित तथ्य है कि विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया अथवा लोगों के बदलते परिवेश के कारण शब्दों के अर्थ लगातार बदलते रहते हैं। इस अर्थ में *ऋग्वेद* के 'असुर' को राक्षस की संज्ञा देने पर वैकल्पिक नज़रिये की ज़रूरत होती है। बहुत पहले दाण्डेकर ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि वैदिक शब्द असुर शास्त्रीय संस्कृत के सुर (देवता) शब्द से ज़्यादा प्राचीन शब्द था और उसे सुर का प्रतिलोम नहीं माना जाता था। अपने मूल अर्थ में असुर एक ऐसी शख़्सियत के लिए प्रयुक्त किया जाता था जिसके पास सबसे ज़्यादा जादुई शक्ति होती थी। यह बाद की बात है जब इस शब्द पर 'राक्षस' के अर्थ का आरोपण किया गया और सुर नामक एक कृत्रिम शब्द की रचना की गयी। असु की तुलना मन की जादुई शक्ति से की जाती थी। *मन* नाम का यह देवता अपनी विराट 'जादुई शक्ति' के बल पर ब्रह्माण्ड की रचना करके उसे एक व्यवस्था प्रदान करता है। वही इसका सर्वोच्च सम्प्रभु होता है और उसकी इसी अनूठी शक्ति को माया कहा जाता है। *ऋग्वेद* के सातवें मण्डल के 88.6 सूक्त में वरुण को यक्षिन् अर्थात् जादूगर कहा गया है।[9] अपनी इस माया के कारण वरुण को ऋत का एकमात्र नियामक माना जाता था। ऋत की यह संज्ञा नैतिक या दैवीय व्यवस्था से कहीं ज़्यादा व्यापक अर्थ की ओर इंगित करती थी। वरुण को भौतिक जगत का अधिष्ठाता माना जाता था। दाण्डेकर ने वरुण और इंद्र के संघर्ष में इंद्र की विजय के जो कारण बताए हैं उनसे सहमत हो पाना थोड़ा मुश्किल है परंतु यह निश्चित है कि दोनों की भूमिकाएँ स्पष्ट ही एक दूसरे से अलग थीं।

---

[8] बी.एन. गोस्वामी(2014) : 212-215.

[9] आर.एन. दाण्डेकर (1979) : 53-61. दाण्डेकर स्पष्ट करते हैं कि 'जादू' को उसके अतिसरलीकृत और लोकप्रिय अर्थ में न देख कर मनुष्य के वैचारिक विकास, विशेषकर संसार और मनुष्य के संबंधों के अर्थ में 'धर्म' तथा 'विज्ञान' के दो अन्य चरणों के साथ एक तीसरे चरण के रूप में देखना चाहिए. वरुण की माया के संबंध में देखें, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959) : 622-665. वाश ऐडवर्ड हेल (1986) भी देखें.

ऋत के घटते महत्त्व और वरुण की गिरती प्रतिष्ठा उत्तर-वैदिक काल की घटनाएँ हैं जब समाज का समतावादी ढाँचा दरकने लगा था; समाज विभिन्न स्तरों में बँटने लगा था और इसके परिणामस्वरूप शोषणकारी वर्ग सिर उठाने लगे थे।

III
शिव एवं विष्णु

आधुनिक हिंदू धर्म के एक प्रमुख देवता— शिव महादेव का *ऋग्वेद* में कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन उसमें रुद्र नामक भयावह देवता का वर्णन करते हुए उसके तीरों से बचने की सलाह दी गयी है। *ऋग्वेद* के रुद्र यज्ञ संबंधी अनुष्ठानों के दुर्दम विनाशकर्ता, युद्ध में नेतृत्व करने वाले तथा पशुओं के चोर माने जाते थे।[10] *ऋग्वेद* के देवताओं में कोई भी देवता इतना भयंकर नहीं था। उत्तर वैदिक काल की *वाजसनेयी संहिता* के 'शतरुद्रीय स्तोत्र' में उनके विषय में कहा गया है : 'हम धोखेबाज़, ठग, सेंधमारों के सरदार ... उचक्के ... जेबकतरों के मुखिया को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।' इस स्तोत्र में रुद्र को 425 हव्य समर्पित किये गये हैं। बाद में ये रुद्र ही शिव की छवि में समाहित हो जाते हैं। महादेव बनने की इस प्रक्रिया में शिव की छवि में पुराणों के रचना काल (वर्तमान युगीन 300 से 1500) तक अन्य कई ऐसे पंथों के देवी-देवता शामिल हो चुके थे जिनकी प्रकृति एक दूसरे के विपरीत पड़ती थी। शिव के इस देवकुल में महेश्वर, विनायक, गणेश/गणपति, मुरुगन/कार्त्तिकेय, मनसा, अम्बा तथा दुर्गा आदि जैसे देवी-देवता शामिल किये गये हैं।[11] इनमें मुख्य देवता शिव तो कैलास पर्वत और श्मशान भूमि में वास करते थे जब कि उनसे संबंधित अधिकांश देवी-देवता विशेषकर, वनों तथा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों से वास्ता रखते थे। शैव-सम्प्रदाय की इस विकास-प्रक्रिया के दो पहलू विशेष महत्त्व रखते हैं। पहला, इस प्रक्रिया को चिह्नित करने के लिए देवकुल शब्द का उपयोग करना शायद पूरी तरह उचित नहीं होगा। हालाँकि शिव सांसारिक बंधनों के प्रति उदासीन दिखाए जाते हैं परंतु समस्त देवताओं में शायद वे ही एकमात्र ऐसे घर-बार वाले देवता हैं जिनके परिवार में पत्नी, बेटियाँ और बेटे भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिवासी समाजों में इन देवताओं का प्रवेश नातेदारी के ऐसे ही संबंधों के कारण हुआ होगा। दूसरे, सम्मिलन की यह प्रक्रिया उन शताब्दियों में और निथरती चली गयी जिन्हें शक, कुषाण तथा यूनानी आदि जैसी 'विदेशी' शक्तियों के प्रसार के कारण भारत के प्रारम्भिक इतिहास में 'अंधकार-युग' के नाम से जाना जाता है। धर्मानंद कोसम्बी (डी.डी. कोसम्बी के पिता) ने यह मत बड़े प्रबल ढंग से रखा था कि महादेव (बैल की बलि के शौक़ीन : देखें, *आश्वलायन गृह्यसूत्र* में शूलगव यज्ञ से संबंधित ब्योरे) का महेश्वर जैसे अहिंसावादी (यज्ञों के विरोधी) देवता में रूपांतरण बौद्ध धर्म के प्रभावों का परिणाम था। यह परिघटना शकों के काल से जोड़ कर देखी जाती है।[12]

आधुनिक हिंदू धर्म के एक अन्य प्रमुख देवता विष्णु हैं। हालाँकि *ऋग्वेद* में विष्णु पूरी तरह अनुपस्थित तो नहीं हैं परंतु *ऋग्वेद* की ऋचाएँ रचने वाले उस समाज में, जहाँ स्तरीकरण की परिघटना लगभग न के बराबर थी, विष्णु एक अज्ञात देवता की हैसियत रखते थे। समय के साथ शिव की भाँति विष्णु की लोकप्रियता में भी वृद्धि होती गयी परंतु विष्णु की बढ़ती प्रतिष्ठा का परिवेश और उसके कारण नितांत भिन्न थे। आज हमें लक्ष्मीनारायणायनमः जैसे पद को समझने के लिए बहुत माथा-पच्ची

---

[10] आर.सी. हाज़रा (2003). उल्लिखित पुस्तक में रुद्र के उल्लेख कई स्थानों पर मिलते हैं.

[11] सुकुमारी भट्टाचारजी (1970). ये भी देखें, वेंडी डोनिगर ओ'फ़्लाहर्टी (1973), अनीता रायना थापन (1997), नीलिमा चितगोपेकर (1998), रिचर्ड डी. मान (2012).

[12] धर्मानंद कोसम्बी (1957) : 145-48.

नहीं करनी पड़ती जो वस्तुतः विष्णु के प्रति आदर व्यक्त करने का ही एक ढंग है। लेकिन विष्णु की यह पहचान विभिन्न पंथों के एकत्रीकरण की एक सुदीर्घ और व्यापक प्रक्रिया का ही परिणाम थी। इसके अंतर्गत खेतिहर लोगों के देवता संकर्षण–बलराम अर्थात् हलधर; गो–पालकों के देवता गोपाल कृष्ण तथा गण–चिह्नों से संबंधित अनेक पंथों को अवतारों (दैवीय गुणों के 'आभास'/ 'प्रगटन') की अनूठी युक्ति द्वारा आपस में संयोजित किया गया था। शिव और विष्णु की पहचान अलग–अलग पारिस्थितिक परिक्षेत्रों के साथ जुड़ने लगी थी। इस तरह, शिव को वन का और विष्णु को क्षेत्र (मैदानी इलाक़े) का देवता माना जाने लगा।[13] शिव के अनुयायी मुख्यतः एक ऐसे समाज से संबंध रखते थे जिनमें अभी वर्गों के निर्माण की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई थी जबकि विष्णु का प्रसार स्तरीकरण की ओर बढ़ रहे समाजों में ज़्यादा हुआ। कर्मकाण्डीय महत्त्व की दृष्टि से ऐसे समाजों में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च होता जा रहा था। यहाँ, यह कहना शायद बहुत ग़लत न होगा कि इससे कूर्म, मत्स्य तथा वराह जैसे गण–चिह्नवादी पंथों के अनुयायियों की नियति तय हो गयी थी। वैष्णव सम्प्रदाय अपने यहाँ बुद्ध को जिस तरह का स्थान प्रदान करता है, उससे इस सम्भावना को काफ़ी बल मिलता है। हालाँकि विष्णु के अवतारों की सूची में बुद्ध को भी शामिल किया गया है परंतु *स्कंदपुराण* के 'काशीखण्ड' का आख्यान यह दिखाता है कि विष्णु ने बौद्ध भिक्षु पुण्यकीर्ति का भेष धारण करके बौद्ध दर्शन का सार प्रस्तुत किया था, जिसका उद्देश्य केवल वर्णधर्म की आलोचना करना नहीं बल्कि काशी के राजा दिवोदास तथा स्वयं बुद्ध को बदनाम करना था।[14] प्रसंगवश, बताते चलें कि बुद्ध को विष्णु में समाहित करने के इस गोरखधंधे को श्रीलंका के इतिहास और सिंहली बौद्धों की धार्मिक संस्कृति में दूसरी तरह अंजाम दिया गया, जिसके अंतर्गत, जैसा कि हॉल्ट बताते हैं, ब्राह्मण देवता विष्णु का रूप बदल कर उसे बुद्ध का अधीनस्थ बना दिया गया।[15]

शिव और विष्णु की लोकप्रियता का विकास–क्रम एक समान नहीं रहा, लेकिन उनके विकास में मौर्योत्तर काल के तथाकथित 'विदेशियों' का विशेष योगदान रहा है। वैष्णव देवताओं को यवनों, शकों तथा कुषाणों से भी आश्रय प्राप्त हुआ। इस संदर्भ में बेसनगर के प्रसिद्ध गरुड़ स्तम्भ अभिलेख को, जिसमें यवन राजदूत हेलियोडोरस ने स्वयं को भागवत घोषित किया है, अफ़ग़ानिस्तान में 1965–78 के दौरान आइ–खानूम नामक स्थान से प्राप्त अवशेषों के साथ रख कर पढ़ना उपयोगी होगा। इस जगह 1970 में किये गये उत्खनन से एगाथोक्लीज़ (सामान्य युग पूर्व 180–170) के छह द्राख्म (एक प्रकार के सिक्के) का निक्षेप प्राप्त हुआ था। इन सिक्कों को इसलिए अनूठा माना जाता है क्योंकि इन पर वैष्णव कुल के लोकप्रतिष्ठ देवताओं वसुदेव–कृष्ण और उनके बड़े भाई संकर्षण–बलराम को पहली बार मानव रूप में उत्कीर्ण किया गया था। इसी तरह छत्तीसगढ़ के बिलासपुर ज़िले में मल्हार नामक स्थान पर 1975–1978 के दौरान किये गये उत्खनन से एक प्रस्तर–शिल्प प्राप्त हुआ था, जिसमें विष्णु (वर्तमान युग की दूसरी शताब्दी) को एक शक सैनिक के वेश और चतुर्भुज (चार हाथ वाले) रूप में दर्शाया गया है। इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि शक वंश के अनेक राजाओं ने शैव नाम अपनाए थे। इसी तरह कुषाणों के सिक्कों पर भी शिव की विभिन्न छवियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। इन 'विदेशी' राजाओं का प्रभाव 'पाश्चात्य' देवी सीबेले (शेर द्वारा खींचे जा रहे रथ पर बैठी या खड़ी हुई देवी) के रूप में भी प्रकट होता है। मूर्तिशिल्प के क्षेत्र में यह एक नयी अवधारणा का सूत्रपात था, जिसे वर्तमान युग की तीसरी–चौथी शताब्दियों से पहले पश्चिमी भारत तथा रोम के बीच होने

---

[13] वन और क्षेत्र की अवधारणाओं को समझने के लिए देखें, गुंथेर–डाइट्ज़ सोंथाइमर (2004) : 353–382.

[14] तुलना के लिए देखें, डायना एल. एक (1983) : 209–10. आमतौर पर यह माना जाता है कि कुछ पुराणों में शिव के अवतारों का उल्लेख किया गया है परंतु शैवों ने इस युक्ति को कभी सार्वभौम स्वीकृति प्रदान नहीं की. कुछ ऐसे ही संदर्भों और उनसे संबंधित चर्चा के लिए देखें, ज्यॉफ्री पैरिंडर (1970) : 88–89.

[15] जॉन क्लिफ़र्ड हॉल्ट (2008).

वाले व्यापार का परिणाम माना जा सकता है।[16] प्रसंगवश, देवी सरस्वती की भी सबसे पहली मूर्ति मिलने का समय शक संवत् 54 (133) माना जाता है। यह मूर्ति मथुरा से प्राप्त हुई थी।[17] तब मथुरा में कुषाणों का शासन था। इन साक्ष्यों से स्पष्ट पता चलता है कि काशी प्रसाद जायसवाल सरीखे इतिहासकार द्वारा शक और कुषाण शासकों को खलनायक और मूर्तिभंजकों के रूप में पेश करना या उन्हें तथाकथित 'हिंदू' धर्म का शत्रु बताना एक आधारहीन और तर्कातीत आरोप है।[18]

IV

जीवंत धार्मिकताओं का उदय

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म और महावीर (चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर) के जैन धर्म को गंगा घाटी के नगरीय केंद्रों तथा नये खेतिहर समाज के व्यापारियों, किसानों, मेहनतकशों और दस्तकारों ने इसलिए हाथों-हाथ लिया क्योंकि नये धर्मों के दोनों चिंतक पशुओं के आर्थिक महत्त्व, मुद्रा के आगमन और नयी अर्थव्यवस्था से जुड़े अन्य घटकों का महत्त्व समझते थे।[19] सामान्य युग पूर्व की पाँचवीं-चौथी शताब्दी तक ग्रामीण परिवेश के इर्द-गिर्द उभरी ब्राह्मणी धार्मिकता का प्रभाव क्षीण पड़ने लगा था, क्योंकि यह धार्मिकता समाज में उभर रहे नये भौतिक कारकों का विरोध करती थी। इन नये ग़ैर-ब्राह्मणवादी धर्मों के प्रभावस्वरूप लोक में प्रतिष्ठित अनेक देवी-देवता, जो हिंसा से ख़ास परहेज़ नहीं रखते थे, या तो अहिंसक देवताओं में रूपांतरित हो गये अथवा नये धर्मों के अनुयायी बन गये थे। लेकिन उनका अस्तित्व पूरी तरह ख़त्म नहीं हुआ था। उत्तर-वैदिक काल में धर्मों की यह विविधता और जीवंतता पालि ग्रंथ *चुल्लनिद्देस* में भली-भाँति देखी जा सकती है। यह ग्रंथ गंगा और उसकी सहायक नदियों के घाटी-क्षेत्र के जन-जीवन और उसकी इच्छाओं का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। आम तौर पर इस ग्रंथ का काल सामान्य युग पूर्व की तीसरी शताब्दी से पहली शताब्दी के बीच निर्धारित किया जाता है। इसके एक किंचित लम्बे अवतरण में पाँच श्रमण (ब्राह्मणेतर) समूहों— आजीविक, निगंठ, जटिल, परिब्बाजक तथा अवरुद्धक का उल्लेख आता है। इसमें आगे बाईस और सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें एक सम्प्रदाय— हत्थिवतिक अर्थात् हाथी के लिए व्रत रखने वालों का था। अनुमान लगाया जाता है कि गणेश की पूजा हाथी के सिर वाले इसी देवता से शुरू हुई होगी। इसी प्रकार, घोड़े के लिए व्रत रखने वाले समुदाय को अस्सवतिक कहा जाता था। इस ग्रंथ में कुछ इसी तरह, गोवतिक (गो-पालकों), कुक्करवतिक (कुत्ते की पूजा करने वाले), काकवतिक (कौये की पूजा करने वाले) पुण्णभद्दवतिक, मणिभद्दवतिक, अग्गिवतिक (अग्नि-पूजकों), नागवतिक, सुपण्ण (गरुड़), यक्खवतिक (यक्ष-पूजकों), असुरवतिक, गंधब्ब (गंधर्व) वतिक, चंद (चंद्रमा) वतिक, सुरिय (सूर्य) वतिक, देववतिक तथा दिसा (दिशा) वतिकों आदि का भी उल्लेख किया गया है। इन बहुविध सम्प्रदायों का उल्लेख कुछ अन्य ग्रंथों (उदाहरणार्थ, पालि ग्रंथ *दीघनिकाय* के आटानाटिय और महासमय सुत्तों) और इनका अस्तित्व कला के अवशेषों तथा अभिलेखीय सूचनाओं से भी सिद्ध होता है। धार्मिक सम्प्रदायों की इस बहुलता से यह भी साबित होता है कि सामान्य युग पूर्व 500 से 300 के जिस काल को 'बौद्ध भारत' का नाम दिया जाता है, वह महज़ एक भ्रामक धारणा है। इस संबंध में यह स्मरण

---

[16] एम.सी. जोशी (1994) : 203-9. इस पुस्तक में छोटी सदरी (राजस्थान) से मिले वर्तमान युगीन 491 के एक अभिलेख का उल्लेख किया गया है, जिसमें एक देवी को सिंहों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार बताया गया है.

[17] एम.सी. जोशी (1993) : 473-480.

[18] अधिक जानकारी के लिए देखें, कृष्ण मोहन श्रीमाली (2007) : 56-61. विशेष रूप से देखें, 42 तथा 43वीं पाद-टिप्पणियाँ.

[19] बुद्ध के दर्शन और उनके धर्मशास्त्र के प्रति अपने गहरे अनुराग के बावजूद हम मौजूदा संदर्भ में उनका विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे. लेकिन शायद यहाँ यह कहना ज़रूरी है कि भारत के दार्शनिक और चिंतकों के लम्बे इतिहास में बुद्ध ही अकेले व्यक्तित्व हैं जो मनुष्य के दिमाग़ को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। चूँकि मानवीय दुखों की समझ, दुख के कारणों, उसके निदान और उपचार की गहरी समझ के कारण बुद्ध को महाभिषज कहा जाने लगा था, इसलिए उनके विमर्श में वैज्ञानिकता के तत्त्व होने की बात एक सीमा तक स्वीकार की जा सकती है. शायद आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिक भी इसी कारण बार-बार बुद्ध की ओर जाते दिखाई देते हैं.

करना भी उचित होगा कि शिव और विष्णु की उपरोक्त ऊर्ध्वगामी गतिशीलता और बढ़ती लोकप्रियता इन्हीं शताब्दियों की बात है क्योंकि धार्मिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह एक बेहद लचीला और गतिशील काल था।

V
भक्ति एवं तंत्र

अब यह एक स्थापित तथ्य माना जाता है कि वर्तमान युग की तीसरी शताब्दी के दौरान भू-अधिकारों की प्रकृति में कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए थे जो एक व्यवस्था के रूप में 1500 तक चलते रहे। इसी युग की पहली शताब्दी में शुरू हुई यह प्रवृत्ति आगामी शताब्दियों में और प्रबल होती चली गयी। भूमि-अनुदान सबसे पहले बौद्ध, ब्राह्मण, संघ, मठ, मंदिर तथा अन्य धार्मिक प्रतिष्ठानों और संस्थाओं आदि को प्रदान किये गये थे। बाद में अनुदान के लाभार्थियों की सूची में विभिन्न प्रकार के सामंत तथा राजकीय अधिकारी भी शामिल किये जाने लगे। कई मामलों में राजकीय अधिकारियों को ऐसे भूमि-अनुदान उनकी सेवाओं के पारिश्रमिक के तौर पर दिये जाते थे। भूमि-अनुदान की यह प्रवृत्ति केवल राजा, रानी और राज परिवार के अन्य सदस्यों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि कई सामंत भी यह काम करते थे। भूमि-अनुदान की इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि कृषि-क्षेत्र में बिचौलियों का एक बड़ा वर्ग खड़ा हो गया जो किसानों के विभिन्न स्तरों, दस्तकारों, कारीगरों तथा सम्पदा के अन्य वास्तविक उत्पादकों पर अपना स्वामित्व जमाया करता था। भू-अधिकारों की इस सोपानात्मक व्यवस्था का ख़ास लक्षण यह था कि सम्पदा का सृजन करने वाले वर्ग अधीनस्थ और जड़ होकर रह गये। इन शताब्दियों के दौरान उभरी भूमि-अनुदानों की इस अर्थव्यवस्था के तहत केवल खेती का विस्तार और विविधिकरण ही नहीं हुआ बल्कि तकनीक के क्षेत्र में भी नये प्रयोग किये गये। यह एक ऐसा काल था जिसमें समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति का पूरा ढाँचा सामंती होता चला गया।

इसे शायद केवल संयोग नहीं कहा जा सकता कि इन शताब्दियों में उपरोक्त बदलावों के समानांतर और लगभग अखिल भारतीय स्तर पर सभी धर्मों— ब्राह्मणवादी और ग़ैर-ब्राह्मणवादी के भीतर दो विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ उभरी। बौद्ध और जैन धर्म भी नैतिकता के इस बदलते रंग-रूप से अछूते नहीं रह सके। इन दोनों धर्मों के अनुयायी भी ब्राह्मणों की भाँति अपरिग्रह के मूल्य से समझौता कर ज़मीन क़ब्ज़ाने के फेर में पड़ गये। सामंती उभार के इस काल में सभी धर्म भक्ति (ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण) और तंत्र (देवी की भक्ति) की ओर उन्मुख होने लगे। भक्ति का यह नया स्वरूप इसी भौतिक आधार पर खड़ा था जिसमें एक तरफ़ न्यायिक-राजनीतिक संरचना और इस पर आधारित नीचे से ऊपर की ओर जाती निष्ठाएँ तो दूसरी तरफ़ वैचारिक तंत्र का एक ऐसा ही दैवीय पदानुक्रम एक दूसरे का अवलम्ब बनते जा रहे थे। जैसा कि राजन गुरुक्कल बताते हैं, 'तमिल का एक प्रसिद्ध अवतरण है— 'तिरुवुतल मन्नरे कनल तिरुमले एन्रुम', जिसका अर्थ यह है कि राजा को उसके राजसी परिधान में देखना भगवान विष्णु के दर्शन करने जैसा होता है। मंदिर में प्रतिष्ठित देवता के शिल्पगत रूपों के संरचनात्मक विश्लेषण से यह बात और ज़्यादा स्पष्ट हो जाती है। मंदिर में स्थापित दैवीय मूर्ति के मुख्य चिह्न ये माने जाते हैं— किरीट (मुकुट), आयुध (हथियार), भूषण (अलंकरण की चीज़ें) तथा चालक, धारक , परिवार (राजचिह्न)। अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये सारी चीज़ें राजसी लक्षणों की ओर ही इंगित करती हैं। इससे यह बात काफ़ी हद तक साफ़ हो जाती है कि अपने सूक्ष्म रूप में राजसी तंत्र की अवधारणा मूर्तिशिल्प विधान तक फैल चुकी थी।'[20] भक्ति की इस धारा का दूसरा सिरा बारहवीं/तेरहवीं शताब्दियों के दौरान उत्तर-पश्चिम कर्णाटक क्षेत्र के

---

[20] राजन गुरुक्कल (1987) : 123. सामंती परिवेश तथा दक्षिण भारत के वैष्णव और शैव भक्त-संतों (क्रमश: आल्वार तथा नायनार) के अंतर्संबंधों की विस्तृत चर्चा के लिए देखें, एम.जी.एस. नारायणन और केशवन वेलुथट (2002) : 385-410.

वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय के उत्थान में भी देखा जा सकता है। बाद में वीरशैव सम्प्रदाय का प्रसार कर्णाटक के अन्य क्षेत्रों तथा आंध्र प्रदेश में भी हुआ। इस नवोदित सम्प्रदाय के विकास में नये क़स्बों के उभार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था के पुनरोदय और इनके परिणामस्वरूप उभरे व्यापारियों तथा दस्तकारों की अहम भूमिका रही थी। यह प्रक्रिया बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रसार को गति प्रदान करने वाले भौतिक आधारों जैसी ही थी। उल्लेखनीय है कि इस सम्प्रदाय के प्रणेता बसव पारम्परिक ब्राह्मण धर्म के घोर विरोधी थे और उन्हें 'जाति के पेड़ की जड़ों पर कुल्हाड़ी' के रूप में देखा जाता था। इस संबंध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि बसव वेदों की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे।[21]

इसी तरह, समूचे उप-महाद्वीप में भूमि-अनुदानों के प्रसार तथा उसके कारण कृषि क्षेत्र में होने वाली बढ़ोतरी से धरती माता और स्त्री की प्रजनन-शक्ति से संबंधित प्रतीकों पर और ज़ोर दिया जाने लगा। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप तांत्रिक क्रिया-कलापों में भी एक नया आयाम जुड़ गया। यहाँ शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि सभी धर्मों का तंत्रीकरण इन सामंती सदियों का एक प्रमुख लक्षण बन गया था। इस प्रक्रिया को केवल पंचमकारों के विरूपीकरण की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। इसके बजाय तांत्रिकता को ब्राह्मण और ग़ैर-ब्राह्मणवादी धर्मों के भीतर स्त्री और देवी-रूपों के प्रवेश का परिचायक माना जाना चाहिए। पूर्व-मध्यकाल की शताब्दियों के दौरान खेती के विस्तार तथा धर्म की समस्त प्रणालियों में मातृ-देवियों की इस वृद्धि के सहसंबंध की तरफ़ राम शरण शर्मा ने भी संकेत किया था। एम.सी. जोशी का भी यही मानना था कि शाक्त परम्परा की जड़ें इस उर्वरा मातृदेवी की संकल्पना में ही निहित थीं।[22] ब्राह्मणवादी धर्मों में विभिन्न देवियों को देवताओं की संगिनी के रूप में चित्रित किया जाता था; जबकि जैन धर्म में जिनों के साथ दर्शाए जाने वाली यक्षियाँ स्वतंत्र दैवीय सत्ता मानी जाती थीं। बौद्ध धर्म में भी ऐसी कई 'हितकारी' और 'अहितकारी' देवियों को प्रश्रय दिया गया।[23]

अगर कभी भारतीय उप-महाद्वीप का कोई नक़्शा बनाया जाए तो वह तारा, डाकिनी, शाकिनी, शक्ति,सप्तमातृकाओं, दशमहाविद्याओं, छब्बीस विद्यादेवियों, चौंसठ योगनियों, ग्राहियों, भैरवियों, ज्वालामालिनी, पद्मावती, कुषमण्डिनी, गणेशिनी, वराही, वैष्णवी, वज्रवराही तथा नैरात्मया, छिन्नामुण्डा, सिंहमुखा, कुरुकुल्ला, डेड्डुरी, ठनी, टकरी तथा रिढ़ाली आदि जैसी अनेक अल्पज्ञात देवियों से आच्छादित मिलेगा।[24] इनमें कई देवियाँ अपने धुँधले अस्तित्व से निकल कर मुख्यधारा की तरफ़ बढ़ने में सफल रहीं, कुछ अन्य देवताओं की जीवन-संगिनी बन गयीं तो अन्य स्वयं को विलुप्ति से बचाए रखने में सफल रहीं। शाब्दिक दृष्टि से इनमें बहुत कम देवियों को ही 'मातृदेवी' की श्रेणी में रखा जा सकता था। *श्री ललिता सहस्रनामा* के आठ सौ चौंतीसवें पद में योगिनियों को विशेष रूप से 'उन्मुक्त' (*ओम विश्रृंखलायै नमः*— सदा से उन्मुक्ता को नमन्) कह कर सम्बोधित किया गया है।[25] दैवीय सत्ता में स्त्री-रूपों यानी देवियों का यह आविर्भाव संस्कृतनिष्ठ पुरोहितों और आदिवासी तत्त्वों की सांस्कृतिक अंतरक्रिया की ओर संकेत करता है। थॉमस कोबर्न ने *मार्कण्डेय पुराण* (वर्तमान युग की छठी शताब्दी) पर केंद्रित अपने अग्रणी अध्ययन *देवी माहात्म्य* में दावा किया था कि यह संस्कृत में देवी की परिघटना का सबसे विशद् अध्ययन है। उन्होंने इसकी व्याख्या संस्कृतीकरण की पदावली में की थी क्योंकि देवी-पूजा की मूल प्रेरणा 'ग़ैर-आर्य' और

---

[21] नव-शैवों के इस सशक्त आंदोलन की भौतिक पूर्व-पीठिका को गहराई से समझने के लिए देखें, आर.एन. नंदी (2002) : 469-486.

[22] रामशरण शर्मा (2002) : 441-454. ; एम.सी. जोशी, (2002) : 39-55.

[23] चीज़ों को दो-ध्रुवीय (बाइनरीज़) में देखना एक ऐसा प्रश्न है जिस पर दुबारा विचार किया जाना चाहिए क्योंकि इस तरह का वर्गीकरण व्यक्तिगत और सापेक्षिक आग्रहों से ग्रस्त रहता है. सोंथाइमर ने अपने एक लेख में व्यक्तिपरक आग्रहों पर नज़र डालते हुए *उग्र* ('घोर, 'दैत्य-सम', 'झकझोरक') तथा *सौम्य*, ('शांत', 'कल्याणक') जैसी शब्दावली की विवेचना की है. देखें, गुंथेर-डाइट्ज़ सोंथाइमर (2004) : 39-55.

[24] तुलना के लिए देखें, राणा पी.बी. सिंह (सं.) (2010). प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे उद्धरण अनेक स्थानों पर मिलते हैं.

[25] नीलिमा चितगोपेकर (2002) : 82-111.

'ग़ैर-ब्राह्मणवादी' स्रोतों से आयी थी।[26] मध्य प्रदेश से प्राप्त शक्ति की चार सौ मूर्तियों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि इनमें से अधिकांश देवियों के चर्चिका, उमरीमाता, बिजसनीदेवी, बेहमाता, बिरसनीदेवी आदि जैसे नाम मूलवासियों में प्रतिष्ठित देवियों की ओर संकेत करते हैं।[27]

VI
भारत-इतर धार्मिकताएँ

भारत के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक तंत्र में, विशेष कर वर्तमान युगीन सातवीं शताब्दी के बाद अरबों, तुर्कों और ईरानी लोगों के बढ़ते प्रभाव के कारण इस्लाम एक यथार्थ बन गया था। भारत में इसी समय के आसपास ज़रथुस्त्रवादियों (पारसियों) का भी आगमन हुआ जो आधुनिक ईरान से चल कर गुजरात के संजान में आकर बस गये थे। भारत में ईसाइयों का इतिहास इससे भी पुराना है। किंवदंती के अनुसार सेंट थॉमस वर्तमान युग की पहली शताब्दी में ही आज के केरल में क़दम रख चुके थे। पंद्रहवीं सदी में वास्को द गामा के मालाबार तट पर पहुँचने से कई शताब्दी पहले ही केरल का ही एक शासक अरब व्यापारियों की आवभगत कर चुका था। इस आदान-प्रदान का धार्मिक पहचानों पर असर पड़ना अवश्यम्भावी था। इस प्रक्रिया में भौतिक हितों, विशेषकर व्यापार-सम्पर्कों की बाध्यता तो काम कर ही रही थी, साथ ही भारतीय और भारत-इतर धर्मों के बीच बनती इस आपसी समझ के पीछे राजनीतिक संयोगों की भी कोई न कोई भूमिका अवश्य रही होगी। वीरावल (गुजरात) से प्राप्त अरबी और संस्कृत में लिखे गये एक द्विभाषी अभिलेख में कहा गया है कि अर्जुनदेव (चौलुक्य-वघेल) के शासनकाल में नोरादिना पिरोजा (नुरुद्दीन फ़िरोज़) नाम के एक नाख़ुदा (जहाज़ के कमांडर) ने वहाँ स्थानीय निवासियों की मदद से ज़मीन ख़रीद कर उस पर एक मिजिगिति (मस्जिद) का निर्माण किया था और इस जगह को धर्मस्थान का नाम दिया था। मस्जिद में दैनिक पूजा-पाठ करने के लिए चढ़ावे, रोशनी, तेल और अन्य पेय पदार्थों की व्यवस्था की गयी थी। मंदिर से जुड़े कर्मकाण्डों में प्रयुक्त किये जाने वाले महोत्सव , पूजा, दीप, तैल और पानी जैसे शब्दों का इस्लाम धर्म के रीति-रिवाजों की तरह इस्तेमाल किया जाना एक तरह से सहज बात ही थी, क्योंकि उक्त अभिलेख में मस्जिद को धर्मस्थान के रूप में प्रस्तुत किया गया था। पवित्र स्थान की तरह उसकी दैवीय सत्ता को भी स्थानीय अवधारणा के रूप में चित्रित करने की यह प्रवृत्ति अन्य अभिलेखों में भी देखी जा सकती है। मसलन, (विक्रम) संवत् 1385 (=1328) के बटीहागढ़ के प्रस्तर-अभिलेख तथा (विक्रम) संवत् 1646 (= 1590) में दर्ज आदिल शाह के बुरहानपुर स्थित संस्कृत अभिलेख में इस्लाम के दैवीय प्रतीकों को 'हिंदू' देवी-देवताओं की पदावली में प्रस्तुत किया गया है।[28] *रहमान-प्रासाद-लक्षणम्* नामक संस्कृत के एक ग्रंथ में *रहमान-प्रासाद* (रहमान के मंदिर अर्थात् अल्लाह के मंदिर) या रहमान-सुरालय के निर्माण से संबंधित सिद्धांतों की चर्चा की गयी

---

[26] थॉमस बी. कोबर्न, पूर्वोक्त, विशेषकर पुस्तक की भूमिका देखें. पूर्व-मध्यकालीन युग में देवी की परम्परा पर इन अध्ययनों में भी विचार किया गया है : एलेन डैनीलो (1964), डी.सी. सरकार (सं.) (1967), चीवर मैकेंज़ी ब्राउन (1974), एच.सी. दास (1981), जॉन स्ट्रैटन हॉली और डोना मैरी वुल्फ़ (सं.) (1982/1984), विद्या दहेजिया (1988), डेविड किंसले (1986/1987), एलिज़ाबेथ ऐनी बेनार्ड (1994), मिराण्डा शॉ (1994/1998), ट्रेसी पिंचमैन (1994), स्टीवन जे. रोज़ेन (सं.) (1996), विजया रामास्वामी (1996), डगलस रेनफ्रीड ब्रुक्स (1966), डेविड किंसले (1997/1998), मासाकाजू तनाका और मुसाशी ताचिकावा (सं.)(1999), एन.एन. भट्टाचार्य (सं.) (1999), एलेन गोल्डबर्ग (2002), नीलिमा चितगोपेकर (2002), डेविड गॉर्डन व्हाइट (2003), मिराण्डा शॉ (2006/2007), ज्यॉफ्री सैमुएल (2008).

[27] ओ.पी. मिश्रा (1985). पुस्तक में संबंधित उद्धरण अनेक स्थानों पर मिलते हैं. यह भी देखें, महेश्वर नियोग (1964) : अध्याय संख्या 5, 10, 11 तथा 12 विशेष रूप से द्रष्टव्य; आर.एन. नंदी (1973) : 114-17.; रामभूषण प्रसाद सिंह (1975) : 23-60. इन स्रोतों से पता चलता है कि विंध्याचल क्षेत्र के शुद्धतावादी तथा ग़ैर-ब्राह्मणवादी धर्मों में मातृ-देवी का प्रवेश भूमि-अनुदानों के कारण सम्भव हुआ था.

[28] डी.सी. सरकार (1963) : 141-50. ; ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (1998) : 70-78. विशेषकर देखें, पाद-टिप्पणी संख्या- 29, 31 तथा 32.

है। इस काल के दौरान उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में कई मुसलमान संत और उनकी दरगाहें जनता में लोकप्रिय हो चुकी थीं।[29]

संस्कृत में एक ग्रंथ *अल्लाह उपनिषद्* अथवा *अल्लोपनिषद्* शीर्षक से भी मिलता है। हिंदू और मुसलमानों के अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान की ओर संकेत करने वाले इस ग्रंथ का संकलन सम्भवतः अकबर के शासनकाल में किया गया था। इस ग्रंथ से एक ऐसी विधा का सूत्रपात हुआ जिसे बाद में दाराशुकोह (शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र, जो उत्तराधिकार के संघर्ष में औरंगज़ेब से हार गया था) ने भी प्रश्रय दिया। दाराशुकोह ने न केवल उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद किया था बल्कि *मज्म-उल-बहरीन* (जिसे सागर-संगम जैसी कोई संज्ञा दी जा सकती है) जैसी कृति की भी रचना की थी जिसमें हिंदू धर्म और इस्लाम के तात्त्विक सिद्धांतों के बीच एक साझी ज़मीन खोजने का प्रयास किया गया था। तांत्रिक और ज्योतिष से संबंधित कई ग्रंथों में भी एक ऐसी पदावली लक्षित की जा सकती है, जो अपनी रंगत में लगभग अरबी या फ़ारसी दिखाई पड़ती है—

खल्लासरम् रुद्दमथो दुफालीह कुत्थम तदुत्थोथ दिवीर नामा

तथा

स्यादिक्कवालह् इशराफ योगः

ये पद क़ुरआन अथवा फ़ारसी के किसी ग्रंथ से नहीं बल्कि संस्कृत की ज्योतिष संबंधी रचना *ताजक नीलकंठी* से लिए गये हैं।[30] इस संदर्भ में एम.सी. जोशी ने अपने एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन में 'हिंदू तंत्रों' पर इस्लाम के प्रभाव की निशानदेही करते हुए दिखाया है कि ऐसे ग्रंथों में इच्छित परिणाम पाने के लिए 'क़ुरआन की आयतों सहित मंत्रों के निरंतर जाप तथा जीवन-रक्षा और शुभ-लग्न आदि के लिए *यंत्रों*' के प्रयोग की बातें की गयी हैं। इस संबंध में उन्होंने शाबर मंत्रों से कई उद्धरण लेकर बताया है कि उनमें ग़ज़नवी सुल्तान महमूद की हनुमान और नरसिंह जैसे देवताओं से तुलना की गयी है और उसे बीमारी से ग्रस्त बच्चे का रक्षक दिखाया गया है :

बिस्मिल्लाहिर-रहीमानिर्रहीम
सेता घोड़ा सेतापलाण, तापर चढ़े महमूद सुल्तान।
कामरु देश का कोड़ा चलावे
गढ़ गजनी का कोतवाल कहावे॥[31]

रिचर्ड ईटन ने मध्यकालीन नगर-राज्य बीजापुर (1490-1618) पर केंद्रित अपने अध्ययन में 'उच्च/शास्त्रीय' परम्परा वाले सूफ़ी साधकों और सामान्य सूफ़ियों के लोक-साहित्य के बीच पनपे संबंधों की चर्चा की है। वे बताते हैं कि साधारण सूफ़ियों के इन लोक-गीतों को ग्रामीण औरतें घर-बार का काम निपटाते हुए गाया करती थीं। देशज कथानकों और छवियों से रचा गया यह साहित्य (*चक्कीनामा, चरखानामा, सुहागननामा, शादीनामा* आदि) इस्लाम की मूल मान्यताओं को सरल भाषा में प्रस्तुत करता था। सच्चा 'भारतीय इस्लाम' यही था।[32]

सूफ़ी नुरुद्दीन चौदहवीं सदी के कश्मीर शैव रहस्यदर्शी ललदयूद से गहरे प्रभावित थे। उनके इस आपसी संबंध को माँ-बेटे के संबंध की तरह माना जाता है। तमिलनाडु में इस्लाम से संबंधित सबसे प्रसिद्ध रचना *चीराप्पुराणम* मानी जाती है। उमरू पुलवर ने इसकी रचना सत्रहवीं सदी में की

[29] तमिलनाडु के त्रिचि में नाथर वली तथा नागोर स्थित एक अन्य सूफ़ी संत की दरग़ाहों तथा तमिलनाडु और केरल में हिंदुओं, ईसाइयों और मुसलमानों के आपसी संबंधों को समझने के लिए देखें, सूसन बेली (1989) : अध्याय 3 और 4.

[30] हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (1989) : 16.

[31] एम.सी. जोशी (1983) : 51-56. यह भी देखें, रोमिला थापर (2004) : 160-168.

[32] रिचर्ड एम. ईटन (1974) : 117-27. यह लेख बाद में ईटन की पुस्तक में भी पुन:प्रकाशित किया गया था. देखें, रिचर्ड एम. ईटन (2000) : 189-99; बबली परवीन (2014) भी देखें : 39-46.

थी। इस रचना में पैग़म्बर साहब और उनके परिवार के जीवन का चित्रण तमिल की साहित्यिक परम्पराओं और भू-दृश्य के मुहावरे में किया गया है। उमरू की इस रचना पर संगम साहित्य की शब्दावली, विचारों और चिंतन-प्रणाली; नवीं शताब्दी के संत भक्त जैसे नम्माल्वार, कंपण द्वारा रचित बारहवीं सदी की तमिल *रामायण* आदि का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।[33]

VII
ज़मीन से उठते स्वर

बहुत समय पहले अंग्रेज़-संस्कृति के परमभक्त नीरद सी. चौधुरी ने *दि ऑटोबायोग्राफ़ी ऑफ़ एन अननॉन इण्डियन* जैसी पुस्तक लिख कर भारत के साहित्यिक परिदृश्य में बड़े धमाकेदार ढंग से प्रवेश किया था। यह बात 1951 की है। तब नीरद पचासेक साल के रहे होंगे। इस पुस्तक के समर्पण में उन्होंने लिखा था : 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्मृति को समर्पित ... हमारे भीतर जो भी अच्छा और जीवंत था उसे रचने, गढ़ने और बाहर लाने का श्रेय इसी ब्रिटिश राज को जाता है।' बाद में हिंदू धर्म पर कड़ा प्रहार करने वाली उनकी एक और पुस्तक *दि कॉन्टीनेंट ऑफ़ सर्स* भी ख़ासी लोकप्रिय रही थी। इस पुस्तक का बुनियादी तर्क यह है कि देश के प्रत्येक प्रमुख 'हिंदू राजवंश' ने नये क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा जमाने के लिए युद्ध का सहारा लिया था। उनका यह भी कहना है कि भारतीय समाज में हिंसा एक बहुत बड़ा घटक है। हमें इस बेठौर और ख़ुद को 'ज्ञान का नक़्शानवीस' कहने वाले चौधुरी जैसे लेखक की यह बात मानना क़तई ज़रूरी नहीं लगता। लेकिन उनका यह वक्तव्य अगर सबा नक़वी के हालिया अध्ययन के साथ रख कर देखा जाए तो वह ज़्यादा धारदार दिखाई पड़ेगा। हाल में सबा एक ऐसे सफ़र पर निकलीं जिसका मक़सद 'अनचीन्हे भारत को खोजना' था। नक़वी की क़िताब *इन गुड फेथ* (2012) इसी खोज का नतीजा थी। इस क़िताब में नक़वी धार्मिक पहचानों के एकांगी साँचों से बच कर चलते हुए जान-बूझकर बनाई गयी दरारों की पड़ताल करती हैं और हमारे सामने एक ऐसा भारत प्रस्तुत करती हैं जिसे धार्मिक पहचान के किसी एकांगी साँचे में नहीं ठूँसा जा सकता। यह भारत दूरदराज़ की नामालूम जगहों पर स्थित पूजा-स्थलों और आचारों या पुरातनपंथी सोच के दुर्गों का भारत है जहाँ साधारण लोग रोज़मर्रा की ज़िंदग़ी में रोजी-रोटी की लड़ाई लड़ते हुए एक साझे ईश्वर की आराधना करते हैं।

नक़वी ने अपनी इस क़िताब में एक बड़ा फ़लक चुना है जो उपमहाद्वीप के लगभग चारों कोनों से लेकर भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों तक फैला है। उनकी शैली किंचित कथात्मकता की ओर झुकी है लेकिन उसमें व्यर्थ का अलंकरण क़तई नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति अनुभव के मुँह से बोलती है और बेलाग रहती है। 'इसे किसी भी दृष्टि से अकादमिक अध्ययन नहीं कहा जा सकता ... परंतु कुल मिला कर कहा जाए तो यह रचना हमें भारत के कई अल्पज्ञात सांस्कृतिक क्षेत्रों के भीतर लेकर जाती है, और इस बात पर भी सवाल खड़े करती है कि परम्पराएँ किस तरह अस्तित्व में आती हैं; या अगर उल्टे सिरे से शुरू करें तो इससे यह भी पता चलता है कि परम्पराओं का अवसान कैसे होने लगता है या वे किन कारणों से नितांत भिन्न रूप ग्रहण करने लगती हैं।'[34] नक़वी ने अपनी क़िताब में तीस से ज़्यादा परिघटनाओं का अध्ययन किया है लेकिन यहाँ हम साधारण जनता की धार्मिकता से संबंधित कुछ ही उदाहरणों पर ग़ौर करेंगे।

---

[33] वसुधा नारायणन (2000) : 74-97. इस पुस्तक में कंपण का जीवनकाल नौवीं शताब्दी में निश्चित किया गया है. लेकिन इस मामले में अधिकांश विद्वानों का मानना है कि कंपण का जन्म बारहवीं सदी में हुआ था. यह निबंध रिचर्ड एम. ईटन (2003) : 393-410. में भी पुनर्मुद्रित किया गया है.

[34] सबा नक़वी (2012) : 21-22. सबा नक़वी ने इस पुस्तक में दूरदर्शन के एक धारावाहिक— *मेरा भारत* की मूल भावना को पकड़ने की कोशिश की है. इस धारावाहिक का निर्माण सबा नक़वी के पिता सईद नक़वी ने 1980 के दशक के आख़िर में किया था.

बंगाल के बाउल यानी गाँव-गाँव घूमने वाले लोकगायक अपने मधुर गीतों के लिए जाने जाते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'रवीन्द्र संगीत' पर भी उनका प्रभाव देखा जा सकता है। इन लोकगायकों की विशेषता यह है कि वे किसी प्रकार के परम्परागत और स्थापित धर्म में विश्वास नहीं रखते और संत परम्परा में सच्ची आस्था के कारण हर तरह के कर्मकाण्ड से दूर रहते हैं। मदन बाउल नाम के एक अपेक्षाकृत प्रसिद्ध संगीतकार-गायक एक गीत में औपचारिक धर्मों की इन शब्दों में भर्त्सना करते हैं :

उस तक पहुँचने के सारे रास्ते मंदिर और मस्जिद ने अवरुद्ध कर दिये हैं
हे ईश्वर! मैं तुम्हारी पुकार सुनता हूँ पर मैं तुम तक कैसे आऊँ
गुरु और मुर्शिद मुझे बीच में ही रोक लेते हैं।
तेरे दरवाज़े पर क़ुरआन, पुराण, ताशिब और माला के ताले जड़े हैं।
अस्त-व्यस्त हो गया है दीक्षा का मार्ग
इसके सिवा चारा क्या है कि मदन रोते-रोते मर जाए।[35]

बंगाल की खाड़ी के सम्मुख स्थित सुंदरवन के जंगलों और दलदलों में लोग एक मुस्लिम देवी बोनबीबी की पूजा करते हैं। यह बात इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस्लाम में मूर्ति-पूजा ईशनिंदा मानी जाती है। बोनबीबी, जिनकी तुलना दुर्गा से की जाती है, इस बात के लिए प्रसिद्ध हैं कि उन्होंने व्याघ्र-देवता से युद्ध किया था जिसके बाद पीर ग़ाज़ी मियाँ के हस्तक्षेप से मनुष्य और चीते जंगल में समान रूप से रहने लगे थे।[36] आंध्र प्रदेश में मुहर्रम शिआ मुसलमानों के रीति-रिवाजों से हट कर एक दूसरी ही चीज़ बन गया है। अपने मूल अर्थ में मुहर्रम एक शोकपूर्ण घटना की ओर संकेत करता है परंतु वह वहाँ ख़ुशी की एक घटना के रूप में मनाया जाता है। लम्बदी, गोंड तथा पारदी जैसे आदिवासी समुदायों में तो मुहर्रम दशहरे और दीवाली जितना ही महत्त्व रखता है। तेलुगु के लोककवि बलैय्याह मुहर्रम पर लिखे अपने एक गीत में कहते हैं :

अल्लाह का नाम जपो
तो देवता आशीर्वाद देंगे

मुहर्रम को लोकप्रिय बनाने में कर्बला स्थित अशुरख़ान की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है, जहाँ इमाम हुसैन और उनके अनुयायियों द्वारा इस्तेमाल की गयी आलमों अर्थात् लाठियों की नक़ल रखी गयी हैं। मुहर्रम में बीबी के अलावा अशुरख़ान मुख्य जुलूस होता है जिसका इतिहास लगभग चार सौ साल पुराना है। ज़ाहिर है कि वह गणेश चतुर्थी या दुर्गा पूजा से काफ़ी पहले की बात है। लोगबाग़ अशुरख़ान के भीतर रखे जाने वाले आलमों की अपने रीति-रिवाजों के अनुसार पूजा कर सकते हैं। इस पर किसी तरह कोई धार्मिक पाबंदी नहीं है। इसमें ग़ैर-मुस्लिम औरतें संतान के लिए प्रार्थना करती हैं।[37]

अब यह बात पूरी तरह स्थापित हो चुकी है कि पुरी स्थित भगवान जगन्नाथ, सुभद्रा और बलभद्र की त्रिमूर्ति इस क्षेत्र में रहने वाले आदिवासी समुदायों की पंथिक परम्परा स्तम्भेश्वरी से विकसित हुई थी। भगवान जगन्नाथ की रथ-यात्रा हर साल बड़ी धूम-धाम से निकलती है जिसमें लाखों लोग भाग लेते हैं। इस यात्रा के दौरान यह रथ मुस्लिम संत-कवि और महान उपासक सालेह बेग़ के सम्मान में उनके मज़ार पर भी रुकता है। बेग़ ने ओड़िया में भगवान जगन्नाथ की प्रशस्ति में कई भजनों की रचना की थी। यह ठीक है कि आज जगन्नाथ के मंदिर पर ब्राह्मणवादी मानसिकता के पुजारियों का क़ब्ज़ा हो गया है और उन्होंने 'हिंदू' धर्म के निम्न वर्गों तथा अन्य ग़ैर-हिंदुओं को इसकी पहुँच से दूर कर रखा है लेकिन पुजारियों का यह तंत्र इन बहिष्कृत लोगों और पीड़ितों के भक्तिपूर्ण उद्गार नहीं

---

[35] वही : 37.
[36] वही : 31-32. इस अनुश्रुति के एक भिन्न पाठ तथा 'पीर' सम्प्रदाय की विशद् चर्चा के लिए देखें, असीम रॉय (1983) : अध्याय 6.
[37] सबा नक़वी, पूर्वोक्त, : 60-66.

मिटा पाया है। अपने एक *भजन* में सालेह बेग़ यह दुख व्यक्त करते हैं :

मेरा पिता मुसलमान है
मेरी माँ ब्राह्मण है
लेकिन मैं सालेह बेग़ भगवान जगन्नाथ का छोटा सा भक्त हूँ केवल।

अपने एक दूसरे भजन में वे यह इच्छा जताते हैं:

हे! स्वामी, मैंने वर्ष भर प्रतीक्षा की है
कि रथ पर सवार होकर जब तुम बाहर आओगे
तो मैं तुम्हारे दर्शन करूँगा,
तुम्हारा यह भक्त सालेह बेग़ विनती करता है तुमसे
कि उसे अपने दर्शन से वंचित न करो।[38]

तमिलनाडु में तिरुचिरापल्ली या त्रिचि का श्रीरंगम मंदिर अनेक शताब्दियों से वैष्णव आस्था का केंद्र रहा है। इस भव्य और विशाल मंदिर में विष्णु के एक पर्याय श्रीरंगनाथस्वामी को शेषनाग की शैय्या पर अधलेटे निरूपित किया गया है। हालाँकि विष्णु की संगिनी के रूप में श्रीलक्ष्मी का नाम ज़्यादा प्रतिष्ठित है लेकिन दिसम्बर-जनवरी की बीस-दिवसीय वैकुण्ठ एकादशी के पहले दस दिनों में पड़ने वाले पगल पथू त्योहार के दौरान भगवान विष्णु को एक जुलूस के रूप में थुल्लुक नचियार के यहाँ ले जाया जाता है। नचियार का नाम, जिन्हें मुसलमान माना जाता है, विष्णु की प्रमुख संगिनियों में शामिल किया जाता है। विष्णु इस त्योहार के पहले दस दिन उन्हीं के यहाँ निवास करते हैं। विचित्र बात है कि इस 'सम्मानित मुस्लिम स्त्री' को मंदिर में बने एक विशेष प्रकोष्ठ में रखा गया है; जबकि मंदिर में ग़ैर-मुसलमानों का प्रवेश वर्जित है। इसी तरह, चेन्नई के मायलापुर स्थित प्राचीन शिव मंदिर के कपालेश्वर जलाशय का प्रयोग मुहर्रम के ताजिए में लगे पंजे या आलम के विसर्जन के लिए किया जाता है। यहाँ यह परम्परा चेन्नई के मुस्लिम बहुल इलाक़े त्रिपलीकेन में स्थित पार्थसारथि मंदिर में उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक चलती रही थी।[39]

धार्मिक पूजा-स्थलों को समाज के बृहत्तर संदर्भ में देखने के अलावा एक कोशिश यह भी की जानी चाहिए कि उपासना के ये पवित्र स्थल अलग-अलग समुदायों के स्तरों पर क्या अंतरक्रिया करते हैं। इस संबंध में उदयपुर के पास स्थित केसरियाजी मंदिर का उदाहरण प्रासंगिक होगा। जैन अनुयायी इस मंदिर में स्थापित मुख्य मूर्ति की जिन आदिनाथ के रूप में पूजा करते हैं जबकि भील इस मूर्ति को कालाजी अथवा करिया बाबा के रूप में पूजते हैं।[40] ज़ाहिर है कि अगर किसी 'स्मारक' के साथ एक साथ इतनी धार्मिक पहचानें जुड़ी हों तो इसके पीछे साधारण *उपासक*, पुरोहितों का तंत्र, दस्तकार और शिल्पकार जैसे विभिन्न कारकों की भूमिका होती है। कहना न होगा कि पत्थरों से उठती इन आवाज़ों को बहुत ध्यान से सुना जाना चाहिए।

VIII

पवित्र स्थान : टकराव, तनाव और अपवित्र करने की कार्रवाइयाँ

आपसी सामंजस्य के इन तमाम वृत्तांतों के बावजूद भारत कभी भी विभिन्न पंथों के अंदरूनी और आपसी विवादों से मुक्त नहीं रहा है। इसी तरह पावन पूजा-स्थलों के ध्वंस तथा एक धर्म के अनुयायियों

---

[38] वही. : 67-72.

[39] वही. : 73-81.

[40] तुलना के लिए देखें, माइकेल डब्ल्यू. मीस्टर (2000). हिमांशु प्रभा रे ने भारतीय पुरातात्विक सोसायटी के अध्यक्षीय सम्बोधन (2013) में इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या 24 का उद्धरण दिया था. देखें, हिमांशु प्रभा रे (2014) : 2.; हिमांशु प्रभा रे एवं कपिला वात्स्यायन (सं.) (2007) भी देखें.

द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों के उत्पीड़न की बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता। अठारह महापुराणों पर एक सरसरी निगाह डालने से ही पता चल जाता है कि अन्य धर्मों तथा पंथों के प्रति उनका रवैया कितना संकीर्ण था। उनमें वर्णित देवताओं की त्रिमूर्ति हमेशा एक दूसरे से होड़ करती रहती थी और दूसरे को नीचा दिखाने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ती थी। दूसरे ढंग से कहें तो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के अनुयायी अपने-अपने इष्ट देवताओं का गुणगान कुछ इस तरह करते थे कि दूसरे देवता उनके सामने क्षुद्र नज़र आते थे। इस समय तक आते-आते *ऋग्वेद* के *असुर* पूरी तरह बदल चुके थे। अब उन्हें 'देवताओं' की श्रेणी से बहिष्कृत किया जा चुका था और किसी भी 'शुभ' चीज़ के साथ उनका कोई संबंध नहीं रह गया था। इसके बजाय, असुर अब पूरी तरह 'राक्षस' की श्रेणी में डाल दिये गये थे और उन्हें एक ऐसी 'बुराई' माना जाने लगा था जिसका उन्मूलन करना आवश्यक था। इसलिए पुराणों के अनेक वृत्तांतों में देव-असुर संग्राम का बार-बार वर्णन किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शैव और वैष्णवों का टकराव तो इस सीमा तक जा पहुँचा था कि इसके कारण कांची नगर को शैव और वैष्णवों के दो अलग-अलग भागों में बाँटना पड़ा था। कई साहित्यिक कृतियों में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि नौवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दियों के बीच विंध्याचल क्षेत्र में भक्ति आंदोलन के प्रणेता बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों का उत्पीड़न और उपहास किया करते थे। इस संबंध में *मत्तविलासप्रहसन* (जिसे पल्लव राजा महेंद्रवर्मन की रचना माना जाता है) तथा *पेरियपुराणम्* (महान पुराण) अथवा तोण्डईमण्डलम् के वेल्लाल और चोल राजा अनापयन [जिसकी पहचान कुलोत्तुंग द्वितीय (1133-50) के रूप में की जाती है, के मंत्री शेक्किलार (बारहवीं शताब्दी) द्वारा रचित *तिरुत्तोण्ट्र्पुराणम्* ('पवित्र उपासकों का पुराण')] का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।[41] विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी टकराव मूर्तिशिल्प में भी परिलक्षित होने लगते थे तथा ग़ैर-ब्राह्मण धर्मतंत्रों तक फैल जाते थे। मसलन, कर्णाटक में पूर्व-मध्यकालीन समय के दौरान बनाई गयीं लकुलीश की मूर्तियों के हाथ में गदा दर्शाई जाती था।[42]

बौद्ध/जैन धर्मावलम्बियों तथा शैव/वैष्णव अनुयायियों के इन तनावपूर्ण संबंधों के परिप्रेक्ष्य में कुछ ऐसे हालिया अध्ययनों की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जिनमें छठी से ग्यारहवीं सदी के दौरान दक्षिण भारत के तमिल-भाषी क्षेत्र में श्रमण धर्मों की पहचान पर विशेष काम किया गया है। इन श्रमण सम्प्रदायों की पुष्टि तमिल अभिलेखों, पुरातात्त्विक और साहित्यिक दस्तावेज़ों से भी होती है। मसलन, आज से क़रीब दो दशक पहले एक पुस्तक आयी थी जिसका सम्पादन जॉन कॉर्ट ने किया था। *ओपन बॉउन्ड्रीज़ : जैन कम्युनिटीज़ ऐंड कल्चर्स इन इण्डियन हिस्ट्री* (1998) नामक यह पुस्तक विचारोत्तेजक ढंग से 'धर्मों की चौहद्दियों के बीच एक दूसरे को चुनौती देने, विचार ग्रहण करने, एक दूसरे के विपरीत बात कहने, बहस करने, दूसरे के तत्त्व अपने धर्म में मिला लेने और अपने भीतर बदलाव करने' जैसे पहलुओं की थाह लेती है। इस संकलन में प्रकाशित लेस्ली ऑर का एक लेख, जिसमें आठवीं सदी से लेकर तेरहवीं सदी के तमिल पुरालेखों का अध्ययन किया गया है, यह बताता है कि भक्ति आंदोलन के संतों द्वारा जैनों को 'अन्य' सिद्ध करने की तमाम कोशिशों के बावजूद जैन सम्प्रदाय समाज से ग़ायब नहीं हो गया था। अपने इसी लेख में लेस्ली जैन और 'हिंदू' 'धार्मिक स्त्रियों' के बीच होने वाले वैचारिक आदान-प्रदान की ओर भी ध्यान दिलाती हैं।[43] 2001 में ऐनी ई. मोनियस

[41] रिचर्ड एच. डेविस (1998); इंदिरा विश्वनाथन पीटरसन (1998) : 163-185. शैवों और वैष्णवों के आपसी विवादों तथा बौद्धों और जैन अनुयायियों के प्रति भक्ति-संतों के शत्रुतापूर्ण रवैये के एक आकलन के लिए देखें, नोबोरु काराशिमा (2014) : 106-11, 153-54.

[42] धार्मिक पहचानों की विविधताओं तथा विभिन्न पंथों के आपसी तनावों और टकरावों के कुछ और ब्योरे जानने के लिए देखें, ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (2014/15) : 10-13. ; डी.एन. झा (2013) : 52-63.

[43] लेस्ली सी. ऑर (1998) : 189-212.



भारत में धर्मों की इन अविकल संरचनाओं को देख कर कोई भी इस भ्रम में पड़ सकता है कि सामान्य लोगों का जीवन केवल धर्म के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता था। लेकिन ज़मीनी सच्चाई हमेशा इससे अलग रही है। यहाँ तक कि *ऋग्वेद* के काल में भी जब विभिन्न कुलों और क़बीलों के लोग प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की स्थापना कर रहे थे, तब भी भौतिक जीवन के प्रश्नों की अवहेलना नहीं की जाती थी। देवताओं से पशुओं (उस समय सम्पत्ति का प्रमुख रूप), अश्वों और पुत्रों (उस काल में पितृसत्ता एक प्रबल प्रवृत्ति थी) की कामना करना एक उत्कट भौतिकतावाद की ओर संकेत करता है। भारतीय उपमहाद्वीप के हज़ारों वर्ष लम्बे इतिहास से पता चलता है कि यहाँ के निवासी किसी एक निश्चित पहचान के बजाय कई पहचान साथ लेकर चलते थे।

महादेव का नटराज रूप

का भी एक अध्ययन आया जिसमें उन्होंने इसी काल के दो बौद्ध ग्रंथों— *मणिमेखलई* और *वीरचोलियम* में बृहत्तर पंथिक समूहों की भिन्न-भिन्न आस्थाओं के संदर्भ में बौद्धों के धार्मिक समुदाय के महत्त्व पर विचार किया है। बौद्धों की इन दोनों पुस्तकों से ऐसा आभास मिलता है कि ब्राह्मणवादी धर्मों पर उनकी करुणा की नैतिकता का गहरा असर हुआ था। उदाहरण के तौर पर, *मणिमेखलई* में वर्णित पूहर का राजा वैसे तो अंतत: विष्णु का अनुयायी बना रहा परंतु उसने अपनी शाही जेल को संन्यासियों के आश्रय स्थल में बदल दिया था।[44]

भारत का लम्बा इतिहास विजेताओं द्वारा पुराने स्मारकों और प्रतीकों के इस्तेमाल या उन्हें अपने धर्म के प्रतीक में बदल कर अपनी सत्ता और सम्प्रभुता क़ायम करने के अनेकानेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। आम तौर पर ऐसी हरकतों के पीछे पराजित समुदाय को अपमानित करने की भावना ही रहती

---

[44] ऐनी ई. मोनियस (2001): प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे उद्धरण कई स्थानों पर मिलते हैं. यहाँ इस बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि एक सिद्धांत के रूप में 'करुणा' का इतिहास काफ़ी पुराना है और स्वयं बुद्ध तक पहुँचता है. सम्भव है कि बुद्ध मनुष्य और अन्य प्राणियों के प्रति अहिंसा के जिस सर्वव्यापी भाव की बात करते हैं, उसकी आधारभूत भाव-भूमि यही रही हो. बुद्ध जब पशुओं के आर्थिक महत्त्व की चर्चा करते हुए उन्हें *अन्नदा, वन्नदा* और *सुखदा* (क्रमश: अन्न, सौंदर्य और सुख के दाता) कहते थे तो शायद इसमें करुणा का तत्त्व पूरी तरह अनुपस्थित नहीं रहता था.

थी, लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करना होता था। भारत के स्मारकों में सम्राट अशोक के स्तम्भ विशेष स्थान रखते हैं। अब यह तथ्य भली-भाँति स्थापित हो चुका है कि सम्राट ने अपनी 'धम्म विजय' के प्रचार-प्रसार हेतु पहले से चले आ रहे किसी 'स्तम्भ सम्प्रदाय' के स्तम्भों का प्रयोग किया था। चेन्नई के निकट महाबलिपुरम में स्थित पल्लवों (सातवीं-आठवीं शताब्दी) का प्रसिद्ध तटीय मंदिर पहले विष्णु को समर्पित किया गया था लेकिन बाद में उसे एक शैव मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया।[45]

इसी प्रकार, अमरावती (आंध्र प्रदेश) के बौद्ध स्तूप में लगे अयक स्तम्भों के एक स्तम्भ को, जिसे बौद्धों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले स्मारक का एक विशेष स्थापत्यक रूप माना जाता था, तेरहवीं सदी के काकतीय राजा ने वहाँ से हटवा कर पास के एक भव्य मंदिर में अमरलिंगेश्वर— शैव लिंग के रूप में स्थापित किया था। पल्लवों और चौलुक्यों के लम्बे राजनीतिक संघर्ष (छठी से आठवीं सदी) के दौरान हर पीढ़ी के विजेता अपनी विजय के प्रतीक के तौर पर एक दूसरे के क्षेत्रों में स्थित स्मारकों का कोई अवशेष अपने साथ ले जाते थे तथा उसे अपने साम्राज्य के किसी विशेष स्थल पर स्थापित करवा देते थे अथवा किसी प्रसिद्ध स्मारक के भीतर अपनी विजय का वर्णन उत्कीर्ण करवा देते थे ताकि शत्रु को लगातार अपनी हार का एहसास होता रहे। धार्मिक स्मारकों का रूप बदलने या उन्हें विरूपित करने के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।[46] 'धार्मिक कट्टरता' के इस सुदीर्घ इतिहास में दसवीं सदी के बाद ग़ज़नवी, ग़ोरी तथा मुग़लों द्वारा 'मंदिरों को अपवित्र या नष्ट करने' के उदाहरणों को इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रख कर देखा जा सकता है। हम इस नृशंस विध्वंस के तथ्य से इनकार नहीं करते। रिचर्ड ईटन ने इस दिशा में एक विशद् काम किया है। उन्होंने वर्तमान युगीन 1192 से लेकर 1760 की अवधि के बीच मंदिरों को अपवित्र किये जाने के लगभग अस्सी उदाहरणों का दस्तावेज़ तैयार किया है। ईटन ने इस परिघटना की पड़ताल इतिहास-लेखन के एक बृहत्तर संदर्भ में रख कर की है। उनकी दलील है कि मंदिरों को अपवित्र करने की यह परिघटना कोई जज़्बाती हरकत नहीं बल्कि एक रणनीति के तौर पर इस्तेमाल की जाती थी और इसे उन इलाक़ों में आजमाया जाता था जो राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में अड़चनें पैदा करते थे। 'मंदिरों को अपवित्र करने जैसी घटनाएँ तब घटती थी जब प्रमुख मंदिरों के हिंदू आश्रयदाता मौजूदा मुस्लिम राज्य के साथ राजद्रोह या दगाबाज़ी करते थे... यह ढर्रा भारत की उस परम्परा से कुछ अलग नहीं था, जो तेरहवीं सदी तक आते आते एक प्रचलित रूढ़ि बन चुकी थी। परम्परा की यह निरंतरता भारत के 'हिंदू' और 'मुस्लिम' कालों के बीच उस कथित साभ्यतिक विभाजन पर गहरे सवाल खड़े करती है, जिसकी सैद्धांतिकी सबसे पहले अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक इतिहास-लेखन में पेश की गयी थी और बाद में पाकिस्तान तथा हिंदू राष्ट्रवादियों के इतिहास-लेखन में दोहराई जाती रही।'[47]

विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मौजूद यह अंदरूनी और आपसी धार्मिक उन्माद तथा प्रत्येक सम्प्रदाय का आंतरिक विद्वेष कभी-कभी शारीरिक हिंसा तथा विरोधी पक्ष को ख़त्म कर देने की हद तक पहुँच जाता था। लेकिन पवित्र स्थानों को विरूपित करने जैसे अपमानजनक कृत्यों के बावजूद, जिन्हें भले ही राजनीतिक ज़रूरत या भारत की प्रचलित रूढ़ियों के नाम पर जायज़ ठहरा दिया जाता था, भारत के इतिहास में वह जगह हमेशा मौजूद रही थी जहाँ असहमति और वैकल्पिक दृष्टि को आदर के साथ देखा जाता था। शायद अमर्त्य सेन इसी वजह से एक शाश्वत 'तार्किक भारतवासी' की संकल्पना

---

[45] जॉन आर.मार (1991) : 574-576.

[46] रिचर्ड डेविस (1994) : 161-77.

[47] डेविड गिल्मार्टिन और ब्रूस लारेंस (सं.) (2000) में रिचर्ड एम. ईटन का लेख 'टेम्पल डेसीक्रेशन ऐंड इण्डो-मुस्लिम स्टेट्स' : 246-281. यह निबंध रिचर्ड एम. ईटन (2000): 94-132 में भी पुनर्मुद्रित किया गया है. रोमिला थापर (2015) भी देखें : 51-56.

सामने रख सके। सवाल और तर्क करने वाला यह भारतीय *ऋग्वेद* के काल में बेधड़क जीता था। जैसा कि हमने ऊपर देखा, *ऋग्वेद* के समय इंद्र सर्वोच्च देवता था, लेकिन तब भी उसकी कथित वीरताओं का उपहास करने वाले लोगों की कमी नहीं थी। स्वयं संस्कृत के ग्रंथों में वेदों की सत्ता को प्रश्नांकित करने की एक लम्बी परम्परा रही है।[48] स्यादवाद् जैन धर्म का एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण दार्शनिक योगदान है जो परम सत्य की प्रत्येक धारणा, विशेषकर वैदिक परम्पराओं में अंतस्थ परम सत्य के दावों पर चतुर्दिक प्रहार करता था। जैन धर्म का यह नज़रिया सत्य की सापेक्षिकता या उसके अनंत आयामों—*अनंतधर्मात्कमेवतत्त्वम्* पर ज़ोर देता था। सच तो ये है कि यह बौद्धिक अहिंसा का एक ऐसा विरल सिद्धांत था जो सभी दृष्टिकोणों को बहुत गहरे सम्मान से देखता था। जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में यह बहस पिछले लगभग डेढ़ हज़ार वर्षों से निरंतर चलती रही है कि स्त्री कभी मोक्ष प्राप्त कर सकती है या नहीं। बहस की इस निरंतरता से ज़ाहिर होता है कि यह सिद्धांत थोथा शब्दाडम्बर नहीं था।[49]

IX

वैचारिक बहुलताओं का प्रत्यय

भारत में धर्मों की इन अविकल संरचनाओं को देख कर कोई भी इस भ्रम में पड़ सकता है कि सामान्य लोगों का जीवन केवल धर्म के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता था। लेकिन ज़मीनी सच्चाई हमेशा इससे अलग रही है। यहाँ तक कि *ऋग्वेद* के काल में भी जब विभिन्न कुलों और क़बीलों के लोग प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की स्थापना कर रहे थे, तब भी भौतिक जीवन के प्रश्नों की अवहेलना नहीं की जाती थी। देवताओं से पशुओं (उस समय सम्पत्ति का प्रमुख रूप), अश्वों और पुत्रों (उस काल में पितृसत्ता एक प्रबल प्रवृत्ति थी) की कामना करना एक उत्कट भौतिकतावाद की ओर संकेत करता है। भारतीय उपमहाद्वीप के हज़ारों वर्ष लम्बे इतिहास से पता चलता है कि यहाँ के निवासी किसी एक निश्चित पहचान के बजाय कई पहचान साथ लेकर चलते थे। उदाहरण के लिए, *शतपथ ब्राह्मण* में म्लेच्छ शब्द का उल्लेख ऐसे लोगों के संदर्भ में किया गया है जो पार्थिव शरीरों को भिन्न-भिन्न आकारों में दफ़नाया करते थे और एक ऐसी भाषा बोलते थे जो संस्कृत से बिलकुल अलग थी। उल्लेखनीय है कि आमतौर पर संस्कृत-भाषियों का संबंध 'आर्यों' के साथ जोड़ा जाता रहा है।

पंजाब सरकार के भाषा-विभाग तथा पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला द्वारा शुरू की गयी पंजाब के भाषाई सर्वेक्षण की योजना का उद्घाटन करते हुए हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बेहद महत्त्वपूर्ण बात कही थी। उन्होंने भाषाई पहचानों के नामकरण में निहित ख़तरों की ओर इशारा करते हुए कहा था कि अक्सर ऐसी पहचानें बाहरी लोगों द्वारा गढ़ी जाती हैं और उनके पीछे हमेशा तिरस्कार की भावना काम करती है। मसलन, कई बार बंगाली-भाषी बिहार के लोगों की भाषा को 'खोटा भाषा' कह कर पुकारते हैं और स्वयं बिहार के कुछ लोग मैथिली के लिए 'छीकाछीकी' जैसे उपहासपूर्ण शब्द का प्रयोग करते हैं।[50] इस संदर्भ में यह स्मरण करना भी उचित होगा कि एक समय संस्कृत-भाषी आदिवासी समुदायों की भाषा को 'मृध्रवाची' (मिथ्या/भ्रष्ट भाषा-भाषी कहा करते थे)। वैसे तो पहचान स्थापित करने की प्रक्रिया ही बेहद पेचीदा होती है; उसमें भी आत्म-संबंधी

---

[48] ऐसे उद्धरणों के एक हालिया आकलन के लिए देखें, डी.एन. झा (2013) : 32-36.
[49] पद्मनाभ एस. जैनी (1991/1992).
[50] हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पूर्वोक्त. : 45-52.

धारणाओं के बारे में जान पाना और मुश्किल होता है। ग़ौर करें कि आमतौर पर लोगों को जनजातीय, भाषाई, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और समुदाय आदि के साँचों में बिना किसी गहरे चिंतन-मनन के ही ठूँस दिया जाता है। प्रोफ़ेसर ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय ने ऐसे लेबलों में निहित विविधताओं की 'वॉयसेज़ फ्रॉम इण्डियाज़ ऐंशेंट टेक्स्ट्स' नामक शीर्षक से विशद् व्याख्या की है।[51] लेकिन,यहाँ दो बिंदुओं पर विशेष ध्यान दिये जाने की ज़रूरत है। पहला, उन तथाकथित 'क्षेत्रीय' पहचानों पर ज़ोर दिया जाना जो अन्य पहचानों के स्वतंत्र अस्तित्व को मान्यता प्रदान नहीं करती।

दूसरा, यहाँ जिन धार्मिक पहचानों की बात की गयी है उनका चरित्र किसी भी प्रकार से एकाश्मिक अथवा 'साम्प्रदायिक' नहीं है। संगम साहित्य तथा राजशेखर की *काव्यमीमांसा* में 'क्षेत्रीय' पहचानों के दो ध्रुव— एक काल-विमर्शी और दूसरा स्थान-संबंधी, प्रकट होते हैं। संगम साहित्य के अंतर्गत विचारित पदों की रचना के संकलन भले ही बाद में तैयार किये गये हों, लेकिन उनका रचनाकाल सामान्य युग पूर्व 100 से लेकर वर्तमान युगीन 300 तक के बीच तथा भौगोलिक स्थान तमिलनाडु में निर्धारित किया गया है। राजशेखर प्रतिहार वंश के राजा महेंद्रपाल के दरबार में कविराज के पद पर प्रतिष्ठित थे। महेंद्रपाल का शासन (नौवीं सदी के उत्तरार्द्ध/दसवीं सदी के प्रारम्भिक काल) राजस्थान और आधुनिक उत्तर प्रदेश में फैला हुआ था। संगम-साहित्य में जिन पाँच तिनाई का उल्लेख किया गया है उनसे पारिस्थितिकीय-भौगोलिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों का बोध होता है। इन क्षेत्रों को उनके भू-दृश्य, वनस्पति और जीव-जंतुओं, जीवनयापन की विशिष्ट आर्थिक गतिविधियों (मरुदम में खेती के लिए सिंचाई और हल का इस्तेमाल किया जाता था), उनके सांस्कृतिक उपादानों, प्रमुख समुदायों (वनाच्छादित कुरिंजी क्षेत्र में कुरवर तथा मुल्लई क्षेत्र में इडैइयार) तथा देवताओं—मायोन = कृष्ण (मुल्लई में) और वरुण (नेयदल में) आदि के आधार पर वर्गीकृत किया गया था। तिनाई की संज्ञा साहित्य-सृजन की शैलियों की ओर भी संकेत करती थी क्योंकि प्रत्येक तिनाई काव्य के एक विशेष भाव को सम्बोधित करती थी। उदाहरणार्थ, कुरिंजी (वन्य क्षेत्र) रूमानी प्रेम, पलई (शुष्क क्षेत्र) वियोग, मरुदम (स्थायी खेती के क्षेत्र) दाम्पत्य और परकीया प्रेम के पर्याय माने जाते थे।[52]

भरत के *नाट्यशास्त्र* का अनुसरण करते हुए राजशेखर भी अपनी कृति *काव्यमीमांसा* में क्षेत्रों का वर्गीकरण वृत्ति (नृत्य-गीत-कलाविलास-पद्धति), प्रवृत्ति (वेश-विन्यास-क्रम) तथा रीति (वचन-विन्यास-पद्धति) के आधार पर करते हैं। बुनियादी तौर पर इसे एक ऐसी युक्ति के रूप में देखा जा सकता है जो क्षेत्रीय पहचानों को लोगों की जीवन-शैली— उनकी वेशभूषा, केश-विन्यास, भाषा और बोली, नृत्य और संगीत के प्रति उनके लगाव इत्यादि के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास करती है। ज़ाहिर है कि इस कसौटी में धर्म जैसा कारक कोई महत्त्व नहीं रखता— न तो संगम साहित्य के रचयिताओं के लिए और न ही राजशेखर के लिए।[53]

जहाँ तक स्वयं धार्मिक पहचानों का प्रश्न है तो इस संबंध में हमें इन चीज़ों का ध्यान रखना चाहिए: (क) बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके अनुयायी कई सम्प्रदायों जैसे, थेरवाद, सर्वास्तिवाद

---

[51] ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (2014/15) :10-13. ; हिमांशु प्रभा रे (2014). रीति-रिवाजों की विविधताओं का तर्क प्रारम्भिक 'धार्मिक' स्थापत्य के रूप और संरचना के आधार पर तय करती हैं. लेकिन अपने इस 'सम्बोधन' में वे 'हिंदू मंदिर' का जिस तरह इस्तेमाल करती हैं वह पूरी तरह अनावश्यक है. इस शब्द का प्रयोग हमें स्वीकार्य नहीं है.

[52] तुलना के लिए देखें, नोबोरु कराशिमा, पूर्वोक्त. : 45.; राजन गुरुक्कल (2010) : 77-94, 136-54.; विजया रामास्वामी (2007) : 278-81. हाल में *तिनाई* के पाठों पर आधारित साक्ष्यों को तमिलनाडु के तोंडईमण्डलम् क्षेत्र में लौह-युग और प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से संबंधित दाह तथा आवासीय स्थलों की खुदाई में मिले भौतिक अवशेषों की रोशनी में पढ़ने के प्रयास किये गये हैं. देखें, स्मृति हरिचरण और नरेश कीर्ति (2014): 641-660. यह अध्ययन इस बात की ओर इशारा करता है कि इन दो प्रकार के साक्ष्यों के बीच प्रत्यक्ष संबंध देखना एक जोखिम भरा काम हो सकता है.

[53] रामेश्वरप्रसाद शर्मा पाण्डेय (1977) : दूसरा और तीसरा अध्याय.

तथा महासांघिक आदि में बँट गये थे। विभाजन की यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुई बल्कि ऐसे सम्प्रदाय अन्य उप-सम्प्रदायों में बँटते चले गये। इनमें कई उप-सम्प्रदाय तो ऐसे थे जो बौद्ध धर्म से अपना कोई विशेष संबंध ही नहीं मानते थे; (ख) जैन धर्मावलम्बियों की स्थिति भी इससे अलग नहीं थी। दिगम्बर, श्वेताम्बर तथा यापनीय जैसे कुछ सम्प्रदायों से तो हम भली-भाँति परिचित ही हैं। लेकिन इनके अलावा मध्यकाल में श्वेताम्बरी सम्प्रदाय संन्यासियों के अनेक समूहों (गच्छ) में बँट गया था और उनके बीच इस बात को लेकर हमेशा एक प्रचण्ड विवाद चलता रहता था कि उनमें कौन सा समूह महावीर की शिक्षाओं का सच्चा प्रतिनिधि है;[54] (ग) इसी तरह, भारत में जब इस्लाम का आगमन हुआ तो हम उसके अनुयायियों की पहचान मुसलमान के तौर पर न करके अरब, तुर्क, तुरुष्क, अफ़ग़ानी, ईरानी, तूरानी, उजबेग़, मंगोल तथा मुग़ल आदि जैसी जातीय पहचानों के आधार पर ज़्यादा करते थे; (घ) भारत में जब पुर्तगाली, डच, अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों का आगमन हुआ तो उनके साथ हमारा पहला परिचय ईसाइयों के तौर पर नहीं बल्कि व्यापारियों के रूप में हुआ था; (ङ) तथाकथित 'हिंदुओं' की सच्चाई भी यही थी कि उनकी पहचान 'हिंदू' जैसी किसी सर्वव्यापी संज्ञा के बजाय सम्प्रदाय— शैव, शाक्त और वैष्णव (इनके उप-सम्प्रदायों सहित) तथा उनके द्वारा माथे पर लगाए जाने वाले तिलक के आधार पर ही की जाती थी। कम से कम अरबों (सातवीं-नौवीं सदी) के आगमन तक तो भारत में यही स्थिति थी। 'हिंदू' शब्द का इस्तेमाल पहली बार अरबों ने ही किया था और उसका संदर्भ धार्मिक न होकर भौगोलिक और जातीय था। अरबों के आने से पहले यहाँ के किसी ग्रंथ में 'हिंदू' जैसा कोई शब्द ढूँढ़े नहीं मिलता। इसीलिए संस्कृत-ग्रंथों पर आधारित धार्मिक विकास के कुछ विशिष्ट चरणों को 'वैदिक', 'ब्राह्मणी' तथा 'पौराणिक' आदि धर्मों के रूप में ही चिह्नित किया जाता रहा है।

X
आज हम कहाँ खड़े हैं और अब कहाँ जाएँ हम?

भारतीय मानवविज्ञानी सर्वेक्षण ने 1985 में 'द पीपुल ऑफ़ इण्डिया' नामक परियोजना शुरू की थी। औपनिवेशिक एथ्नोग्राफ़ी की सीमा यह थी कि वह समुदायों को शेष समाज से काट कर उनका अध्ययन करती थी और ब्रिटिश भारत या चंद रियासती राज्यों पर ही ज़्यादा ध्यान देती थी। इसके विपरीत, भारत के मानवविज्ञानी सर्वेक्षण की इस परियोजना में समूचा देश— प्रत्येक राज्य और सभी संघ-शासित क्षेत्र शामिल थे। इस परियोजना का उद्देश्य यह समझना था कि देश के तमाम समुदायों पर परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं का क्या असर पड़ा है तथा इन प्रक्रियाओं के बीच क्या संबंध स्थापित किये जा सकते हैं। अध्ययन के इस क्रम में उसने 4635 समुदायों, बारह अलग-अलग भाषाई-परिवारों से संबंधित 325 भाषाओं तथा पूरे भारत में लगभग 24 लिपियों की निशानदेही की। इस सर्वेक्षण से यह भी पता चला था कि इस देश की लगभग 65.51 प्रतिशत आबादी रोज़मर्रा के व्यवहार में दो भाषाओं का प्रयोग करती है। सर्वेक्षण से एक अन्य तथ्य यह भी उजागर हुआ कि भारत में लगभग 91 पारिस्थितिकीय-सांस्कृतिक क्षेत्र मौजूद हैं। इस तरह, देश के कई राज्यों (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में छह-छह तथा तमिलनाडु में सात) में एक से ज़्यादा सांस्कृतिक क्षेत्र होने की बात सामने आयी।[55] इससे यह बात साफ़ हो गयी कि भारत का असली चरित्र कई सहस्राब्दियों के दौरान विकसित होने वाली बहु-धार्मिक, बहु-सांस्कृतिक, बहु-जातीय और बहुभाषिक पहचानों से ही तय होता है। यही वह तत्त्व है जिसे भारत के विभिन्न प्रत्ययों यानी बहुलतावादी, विविधताओं से लबरेज़ तथा अंतर्द्वंद्वों और तनावों से घिरे भारत का मूल विचार कहा जा सकता है।

---

[54] फीलिस ग्रैनॉफ़ (2000) : 399-424.

[55] के.एस. सिंह (1992) : 13-16, 102-107.

क्या हम स्थिति पर संतोष जता सकते हैं? दरअसल, ऐसा करना ख़तरे से खेलना होगा। भारत का यह बहुलतावादी विचार अयोध्या में पिछली सदी के आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में संकीर्ण हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा भगवान राम के नाम पर खड़े किये मंदिर आंदोलन के बाद एक गम्भीर संकट में फँस गया है। याद करें कि 2014 में हमारे मौजूदा प्रधानमंत्री ने भी स्वयं को एक ऐसे ही हिंदू राष्ट्रवादी की संज्ञा से विभूषित किया था। 1980 के दशक के मध्य तक त्रिचि के श्रीरंगम और रॉक फ़ोर्ट के मंदिर मुहर्रम के सालाना जलसे के समय नाथर वली की दरगाह पर अपने हाथी भेजा करते थे। लेकिन वह प्रथा अब ख़त्म हो गयी है। चेन्नई में 1990 में पहली बार दंगा हुआ जो उसके हालिया इतिहास का पहला वाक़या था। और इस दंगे की कुल वजह यह थी कि मुस्लिम बहुल इलाक़े त्रिपलीकेन से गुज़र रहे विनायक चतुर्थी के जलसे में शामिल लोग साम्प्रदायिक नारे लगाने लगे और हिंसा पर उतारू हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन लोगों की मौत हो गयी।

आज उस पुरानी गाथा पर भी सवाल उठाए जा रहे हैं कि अमरनाथ की बर्फ़ीली गुफ़ा के शिव लिंग की खोज आदम मलिक नाम के एक गड़रिये ने की थी। एक समय राजस्थान में बाबा रामदेवजी साधारण नीची जातियों के हिंदुओं और मुसलमानों के आराध्य हुआ करते थे। जैसलमेर ज़िले के पोखरण में उनका एक मंदिर है, लेकिन अब रामदेवजी एक ब्राह्मण देवता बन गये हैं। उनके मंदिर में नीची जाति के पुजारी की जगह एक ब्राह्मण पुजारी आ बैठा है। पहले बाबा को पीर माना जाता था लेकिन अब उन्हें भगवान राम का अवतार बताया जाने लगा है। गुजरात, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, बुंदेलखण्ड, मणिपुर तथा ओडीशा के आदिवासी देवी-देवताओं का आज जिस तरह 'हिंदूकरण' किया जा रहा है उसे धर्मांतरण का ही उदाहरण कहा जा सकता है।[56]

पिछले तीन दशकों के दौरान भारतीय संस्कृति की रक्षा के नाम पर एक ऐसी जमात उभरी है जो यह तय करने लगी है कि महिलाओं को कैसे कपड़े पहनने चाहिए। यह जमात वैलंटाईन डे पर उत्पात मचाती है; समाज में झूठी प्रतिष्ठा के लिए प्रेमियों की हत्या करती है; हिंदू-मुसलमानों के बीच वैवाहिक संबंधों (जो अक्सर झूठी ख़बरों के अलावा कुछ नहीं होती) के ख़िलाफ़ 'लव जिहाद' का नारा बुलंद करती है; गुजरात, ओडीशा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और अब दिल्ली में भी गिरजाघरों में आग लगा देती है; कई राज्यों में हिंदू राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में धर्मांतरण के विरुद्ध क़ानून पारित कराती है। पिछले दिनों इस जमात ने 'घर-वापसी' (यानी लोगों का पुन: धर्म-परिवर्तन कराने का छद्मी नाम) और उनके 'शुद्धीकरण' करने का एक नया वितण्डा खड़ा किया है। राष्ट्रपिता के हत्यारे नाथूराम गोडसे को 'देशभक्त' कह कर उसकी मूर्तियाँ बनवाई जा रही हैं। भारतीय संस्कृति के मूल चरित्र को विरूपित किया जा रहा है और उसका मुँह अतीत की ओर मोड़ दिया गया है। असहमति की गुंजाइश दिन-ब-दिन घटती जा रही है। तर्क के स्वर बहुत तेज़ी से कमज़ोर पड़ते जा रहे हैं। ऐसे में यह सवाल उठना लाज़िमी है: क्या भारत में सहस्राब्दियों से 'तर्क और विवेक' की बात करने वाली आवाज़ का गला तो नहीं घोंट दिया जाएगा?

पिछले तीन दशकों के दौरान ही देश में संतों और धार्मिक प्रवचनकर्ताओं की भी एक नयी जमात भी उभरी है जो 'आस्था' तथा 'संस्कार' जैसे टीवी चैनलों के ज़रिये हमारे घरों में घुस आयी है। नव-उदारवादी और बाज़ार-केंद्रित आर्थिक नीतियों के कारण इस देश की एक बहुत बड़ी आबादी असुरक्षा और बेचैनी का शिकार हो गयी है। नये दौर के इन धर्म-गुरुओं ने लोगों की इन्हीं परेशानियों को अपना धंधा बना लिया है। धार्मिक कट्टरतावाद ख़ुद को भिन्न-भिन्न रंगों और रूपों में पेश कर रहा है। ग़ौरतलब है कि धार्मिक कट्टरतावाद की शक़्ल चाहे जैसी हो, उसकी जड़ें हमेशा पितृसत्ता

[56] तुलना के लिए देखें, धर्मेंद्र कुमार और यमुना सनी (2009). अरविंद शर्मा (2011) भी देखें. अरविंद शर्मा 'मिशनरी' और 'धर्म-परिवर्तक' धर्मों में अंतर करते हुए हिंदू धर्म को 'मिशनरी' धर्म की श्रेणी में रखते हैं.

और स्त्री-विरोधी विमर्शों में ही होती है। धर्म के सौदागर यह ज़हर इसलिए उगल रहे हैं क्योंकि वे अशोक के अभिलेखों और *महाभारत* की सीख भूल चुके हैं। देवानामंपिय पियदस्सी अशोक अपने बारहवें शिलालेख में कहता है: 'धर्म के मूल तत्त्वों का प्रसार कई रास्तों से सम्भव है। लेकिन उसका मूल वाणी के संयम में निहित है... वास्तव में, अगर कोई व्यक्ति केवल यह सोचकर अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा करता है कि ऐसा करने से वह अपने सम्प्रदाय के गौरव में वृद्धि कर सकेगा तो ऐसा करके वह अपने सम्प्रदाय का भारी अहित ही करेगा ...।'[57] *महाभारत* जैसी महान् रचना में भी लगभग ऐसा ही कहा गया है:

धर्मम् यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

इसका अर्थ यह हुआ कि किसी अन्य धर्म के मार्ग में बाधा पैदा करने वाले धर्म को धर्म नहीं कहा जा सकता। ऐसा धर्म अपकारी होता है। सच्चे धार्मिक की वीरता सत्याश्रित होती है! वही धर्म सम्यक् धर्म होता है जो किसी से नहीं टकराता।[58] संसार के आदि मनुष्यों को हिंदू बताने वाले या 'हर व्यक्ति जन्म से मुसलमान ही होता है' जैसा दावा करने वाले लोग दरअसल एक ही थैली के चट्टे-बट्टे होते हैं।

1980 के दशक के बाद सावरकर तथा गोलवलकर जैसे लोगों को भी नये सिरे से प्रतिष्ठित किया जा रहा है जिनकी सोच भारत की उस अवधारणा के धुर के ख़िलाफ़ जाती है जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है। पिछले कुछ समय से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख खुल कर हिंदू राष्ट्र की बात करने लगे हैं और हमारे 'हिंदू राष्ट्रवादी' प्रधानमंत्री 'विकास-पुरुष' का चोला ओढ़े घूम रहे हैं। 'विकास' की इस ओट के पीछे दरअसल वे हिंदू धर्म का एक एकाश्मिक ढाँचा गढ़ना चाहते हैं। जबकि सच्चाई यह है हिंदू धर्म का स्वरूप कभी भी एकाश्मिक नहीं रहा। आजकल भिन्न-भिन्न पहचानों को एकसार करके उन्हें एक साँचे में ठूँसने का काम पूरी बेशर्मी से किया जा रहा है। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि आजकल 'राष्ट्र' को एक धर्म विशेष से नत्थी करने पर ज़ोर दिया जा रहा है: हिंदू होना ही भारतीय होना है। कुछ लोगों ने सिक्खों, बौद्धों और जैनों के लाख विरोध करने के बावजूद उन पर 'हिंदू' पहचान थोपना जैसे अपना अधिकार ही मान लिया है। सिक्खों ने एक बार खुले आम घोषणा की थी— *मांस गऊ का खाएँगे, हिंदू नहीं अखवाएँगे*। आज भारत से बाहर जन्मे धर्मों— इस्लाम और ईसाईयत आदि को 'पराया' घोषित करके उनका अपमान किया जा रहा है। भारत में देवी-देवताओं के मूर्तिशास्त्रीय रूप समय के अनुसार सदा बदलते रहे हैं। अतः विपरीतलिंगियों (ट्रांसजेंडर्ज़) द्वारा दुर्गा को अर्द्धनारीश्वर रूप में गढ़ना अचम्भित नहीं करता। परंतु जब दुर्भावनापूर्वक भारत-इतर धर्मों (विशेष रूप से इस्लाम और ईसाईयत) को विध्वंस का लक्ष्य मानकर एक नये क़िस्म के मूर्तिशास्त्र के तहत राम, दुर्गा और गणेश जैसे देवी-देवताओं को हिंसक और नृशंस रूप में चित्रित किया जा रहा है, तो कुछ प्रश्न उठने स्वाभाविक हो जाते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में एक समय ऐसा भी था जब हिंदू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा उछाले जाने वाले नारे— 'भारत का हिंदूकरण करो, हिंदुओं का सैन्यीकरण करो' पर कोई ध्यान नहीं देता था। उस समय ऐसे नारों को 'खण्डित राष्ट्रवाद' का परिचायक माना जाता था। आज ऐसे तत्त्व एक विशेष धार्मिक पहचान के नाम पर फासीवादी 'समरूपीकरण' की वकालत करने लगे हैं। आज इस बात का पूरा ख़तरा मौजूद है कि कल वे कभी भी राजनीति के केंद्र में आकर भारत के सहस्राब्दी पुराने बहुलतावादी विचार को कुछ उसी तरह नष्ट कर सकते हैं जैसे 6 दिसम्बर, 1992 के दिन उन्होंने अयोध्या में सोलहवीं सदी की बाबरी मस्जिद को ज़मींदोज़ कर दिया था। लिहाज़ा आज ज़रूरत इस

[57] डी.सी. सरकार (2009) : 42. 2.

[58] *महाभारत,* VI. (आरण्यकपर्व) 131.10 : बिबेक देबरॉय (2011) : 144.

बात की है कि हम अपनी विभिन्न पहचानों में 'टकराव और तनाव' की बात को एक सत्य की तरह स्वीकार करें क्योंकि नये सृजन और शायद करुणा की बात करने वाले मानवतावाद के बीज इसी तरह के टकरावों, तनावों और संघर्षों में निहित होते हैं।

आभार:
यह व्याख्यान मैंने पश्चिम बंग इतिहास संसद के 31वें वार्षिक अधिवेशन (जनवरी 22-24, 2015) के मुख्य भाषण के रूप में दिया था। व्याख्यान का एक शुरुआती पाठ यॉर्क विश्वविद्यालय, टोरॉन्टो (कनाडा) में प्रस्तुत किया जा चुका था। मैं यॉर्क सेंटर फ़ॉर एशियन रिसर्च, यॉर्क विश्वविद्यालय में भूगोल के स्नातक पाठ्यक्रम तथा वहाँ के दक्षिण एशियाई अध्ययन कार्यक्रम के तत्कालीन निदेशकों का शुक्रिया अदा करता हूँ कि उन्होंने मुझे यह अवसर प्रदान किया। मैं वहाँ भूगोल के स्नातक कार्यक्रम के तत्कालीन निदेशक राजू दास का भी विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे यह व्याख्यान देने के लिए बार-बार प्रेरित किया और बाद में बड़े गहरे और शोधपरक प्रश्न पूछ कर मुझे अपनी कई अवधारणाओं पर पुनर्विचार करने के लिए विवश कर दिया। बहरहाल, मैं उनके सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाया हूँ। उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि मुझे मार्क्सवाद के कुछ सैद्धांतिक पक्षों पर दुबारा काम करना चाहिए, लेकिन मैं उनके उन सुझावों के प्रति भी पूरा न्याय नहीं कर पाया हूँ। इसके लिए मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ। ज़ाहिर है कि इससे मुझे इस व्याख्यान को सुधारने का एक मौक़ा और मिला है। मैं कोशिश करूँगा कि आने वाले दिनों में इस व्याख्यान की कमियों को दुरुस्त कर सकूँ।

संदर्भ :

अनीता रायना थापन (1997), *अण्डरस्टैंडिंग गणपति : इनसाइट्स इनटु द डायनैमिक्स ऑफ़ अ कल्ट*, मनोहर, नयी दिल्ली.

अरविंद शर्मा (2011), *हिंदुइज़म ऐज़ अ मिशनरी रिलीजन*, पहला संस्करण, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क, अल्बनी. इसका भारतीय संस्करण (2014) देव पब्लिर्शस ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित.

असीम रॉय (1983), *दि इस्लामिक सिंक्रेटिक ट्रेडिशन इन बंगाल*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन. इसका भारतीय संस्करण, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, द्वारा प्रकाशित (तिथि विहीन).

आर.एन. दाण्डेकर (1979), *सेलेक्टेड राइटिंग्ज़स*, खण्ड एक, *वैदिक मायथॉलॅजिकल ट्रैक्ट्स*, अजंता पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

आर.एन. नंदी (1973), *रिलीजस इंस्टीट्यूशंस ऐंड कल्ट्स इन द डेक्कन*, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

.... (2002), 'ओरिजिन ऑफ़ द वीरशैव मूवमेंट', डी.एन. झा (सं.), *द फ़्यूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी ऐंड आइडियॉलॅजी इन अर्ली मिडीवल इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.

आर.सी. हाज़रा (2003), *रुद्र इन ऋग्वेद*, संस्कृत पुस्तक भण्डार, कोलकाता.

इंदिरा विश्वनाथन पीटरसन (1998), 'श्रमण्ज़ अगेंस्ट द तमिल वे : जैंस एज़ अदर्स इन तमिल शैव लिटरेचर', जॉन ई. कॉर्ट (सं.), *ओपन बाउन्ड्रीज़ : जैन कम्युनिटीज़ ऐंड कल्चर्स इन इण्डियन हिस्ट्री*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

एच.सी. दास (1981), *तांत्रिसिज़म : अ स्टडी ऑफ़ द योगिनी कल्ट*, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

एम.जी.एस. नारायणन और केशवन वेलुथट (2000), 'भक्ति मूवमेंट इन साउथ इण्डिया', डी.एन. झा (सं.), *द फ़्यूडल ऑर्डर: स्टेट, सोसाइटी ऐंड आइडियॉलॉजी इन अर्ली मिडीवल इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली. पुनर्मुद्रित (2002).

एम.सी. जोशी (1983), 'इस्लाम इन हिंदू तंत्राज़', *जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बॉम्बे*, खण्ड 58.

.... (1993), 'ऑन द प्रेज़ेंस ऑफ़ अ ब्राह्मनीकल तांत्रिक गॉडेस इन जैनिज़्म', *साउथ एशियन आर्कियोलॅजी 1991, प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ द इलेवंथ इंटरनैशनल कॉन्फ्रेंस ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ साउथ एशियन आर्कियोलॅजिस्ट्स*

इन वेस्टर्न यूरोप हेल्ड इन बर्लिन, एडलबर्ट जे. गेल और गर्ड जे.आर. मेविसेन (सं.), फ्रांज स्टीनर वर्लग स्टुटगार्ट.

.... (1994), 'गॉडेस सीबेले इन हिंदू शाक्त ट्रेडिशन', *आर्ट, द इंटीग्रल विज़न : अ वॉल्यूम इन फेलिसिटेशन ऑफ़ कपिला वात्स्यायन,* बी.एन. सरस्वती, एस.सी. मलिक तथा मधु खन्ना (सं.), डी.के. प्रिंटवर्ल्ड, नयी दिल्ली.

.... (2002), 'हिस्टॉरिकल ऐंड आइकॉनोग्राफ़िक आस्पेक्ट्स ऑफ़ शाक्त तांत्रिज़म', कैथरीन एनी हार्पर और रॉबर्ट ब्राउन (सं.), *द रूट्स ऑफ़ तंत्र,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

एन.एन. भट्टाचार्य (सं.)(1999), *तांत्रिक बुद्धिज़्म,* मनोहर, नयी दिल्ली.

एलिज़ाबेथ ऐनी बेनार्ड (1994), *छिन्नमस्ता : द ऑफुल बुद्धिस्ट ऐंड हिंदू तांत्रिक गॉडेस,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

एलेन गोल्डबर्ग (2002), *द लॉर्ड हू इज़ हाफ़ वूमैन : अर्धनारीश्वर इन इण्डियन ऐंड फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

एलेन डैनीलो (1964), *हिंदू पॉलीथीज़्म,* रुटलेज तथा कीगन पॉल, लंदन.

ऐनी ई. मोनियस (2001), *इमैजिनिंग अ प्लेस फ़ॉर बुद्धिज़्म : लिटरेरी कल्चर ऐंड रिलीजस कम्युनिटी इन तमिल-स्पीकिंग साउथ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, न्युयॉर्क.

ओ.पी. मिश्रा (1985), *मदर गॉडेस इन सेंट्रल इण्डिया,* अगम कला प्रकाशन, नयी दिल्ली.

कृष्ण मोहन श्रीमाली (2002), 'द *ऋग्वेद* ऐंड द *अवेस्ता* : अ स्टडी ऑफ़ देअर रिलीजस ट्रेजेक्ट्रीज़', इरफ़ान हबीब (सं), *अ शेयर्ड हेरिटेज : द ग्रोथ ऑफ़ सिवलिजेशंस इन इण्डिया ऐंड ईरान,* तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

.... (2007), 'रिलीजंस इन कॉम्पलेक्स सोसाइटीज़ : द मिथ ऑफ़ द 'डार्क ऐजिज़', इरफ़ान हबीब (सं.), *रिलीजन इन इण्डियन हिस्ट्री,* तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

.... (2012), 'कोसम्बी ऐंड रिलीजस हिस्ट्रीज़ ऑफ़ इण्डिया', *द मैनी कॅरीयर्स ऑफ़ डी.डी. कोसम्बी,* डी.एन. झा (सं), दूसरा संस्करण, लेफ़्टवर्ड बुक्स, नयी दिल्ली.

के.एस. सिंह (1992), *पीपुल ऑफ़ इण्डिया : ऐन इंट्रोडक्शन* (नैशनल सीरीज़, खण्ड 1), एंथ्रोपॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, कलकत्ता.

गुंथेर-डाइट्ज सोंथाइमर (2002), 'द *वन* ऐंड द *क्षेत्र*: द ट्राइबल बैकग्राउंड ऑफ़ सम फ़ेमस कल्ट्स', *गुंथेर-डाइट्ज सोंथाइमर एसेज़ ऑन रिलीजन, लिटरेचर ऐंड लॉ,* हेड्रन ब्रकनेर, एन्नी फेल्डहोस, आदित्य मलिक तथा अन्य (सं.), मनोहर, नयी दिल्ली में प्रकाशित.

.... (2004), 'हिंदुइज़्म : द फाइव कंपोनेंट्स ऐंड देअर इंटरएक्शन', *सोंथाइमर एसेज़ ऑन रिलीजन, लिटरेचर ऐंड लॉ,* हेड्रन ब्रॅकनेर, एन्नी फेल्डहोस, आदित्य मलिक और अन्य (सं.) (2004), मनोहर, नयी दिल्ली.

चीवर मैकेंज़ी ब्राउन (1974), *गॉड एज़ मदर : अ हिस्टॉरिकल ऐंड थियॉलॅजिकल स्टडी ऑफ़ द ब्रह्मवैवर्त पुराण,* हार्टफ़र्ड (यूएसए).

जी.पी. मलालसेकेर (1960), *डिक्शनरी ऑफ़ पालि प्रॉपर नेम्स,* लुज़ाक ऐंड कं., लंदन.

जे.सी. हीस्टरमैन (1957), *दि ऐंशेंट इण्डियन रॉयल कॉन्सीक्रेशन,* मूतों, दि हेग.

ज्यॉफ़्री पैरिंडर (1970), *अवतार ऐंड इनकारनेशन— द वाइल्ड लेक्चर्स इन नैचुरल ऐंड कम्पैरेटिव रिलीजंस इन द युनिवर्सिटी ऑफ़ ऑक्सफ़र्ड,* फेबर ऐंड फेबर, लंदन.

ज्यॉफ़्री सैमुएल (2008), *दि ओरिजिंस ऑफ़ योग ऐंड तंत्र : इण्डिक रिलीजंस टु द थर्टीन्थ सेंचुरी,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

जॉन आर. मार (1991), 'नोट ऑन द न्यु एक्सकैवेशंस एट द शोर टेम्पल, महाबलिपुरम्', *बुलेटिन ऑफ़ दि स्कूल ऑफ़ ओरियंटल ऐंड अफ़्रीकन स्टडीज़,* खण्ड 54, अंक 3, अक्तूबर.

जॉन क्लिफ़र्ड हॉल्ट (2005), *द बुद्धिस्ट विष्णु : रिलीजस ट्रांसफॉर्मेशन, पॉलिटिक्स ऐंड कल्चर,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, कोलम्बिया. इस पुस्तक का भारतीय संस्करण मोतीलाल बनारसीदास द्वारा 2008 में प्रकाशित.

जॉन स्ट्रैटन हॉली और डोना मैरी वुल्फ़ (1982)(सं.), *द डिवाइन कॉन्सॉर्ट*, पहला संस्करण कैलिफोर्निया से 1982 में तथा भारतीय संस्करण मोतीलाल बनारसीदास द्वारा 1984 में प्रकाशित.

ट्रेसी पिंचमैन (1994), *द राइज़ ऑफ़ द गॉडेस इन द हिंदू ट्रेडिशन,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

डगलस रेनफ्रीउ ब्रुक्स (1966), *ऑसपीशस विज़डम : द टेक्स्ट्स ऐंड ट्रेडिशंस ऑफ़ श्रीविद्या शाक्त तांत्रिज़म इन साउथ इण्डिया,* मनोहर, नयी दिल्ली.

डायना एल. एक (1983), *बनारस : सिटी ऑफ़ लाइट,* प्रथम संस्करण रुटलेज ऐंड कीगेन पॉल, लंदन द्वारा. पेंग्विन बुक्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली द्वारा 1993 में पुनर्मुद्रित.

डी.एन.झा (2013) (सं.), 'ईटरनल इण्डिया ऐंड टाइमलैस हिंदुइज़म', *कंटेस्टिंग सिम्बल्स ऐंड स्टीरियोटाइप्स : एसेज़ ऑन इण्डियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर,* आकार बुक्स, नयी दिल्ली.

..............(2013) (सं.), 'ऑफ़ कंफ़्लिक्ट, कनवर्शन ऐंड काउ', *कंटेस्टिंग सिम्बल्स ऐंड स्टीरियोटाइप्स : एसेज़ ऑन इण्डियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर,* आकार बुक्स, नयी दिल्ली.

डी.सी. सरकार (1963), 'वीरावल इंसक्रिप्शन ऑफ़ चौलुक्य-वाघेल अर्जुन, 1264 एडी', *ऐपिग्राफ़िया इण्डिका,* अंक 34 (1961-62).

डी.सी. सरकार (सं.)(1967), *द शक्ति कल्ट ऐंड तारा,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता.

.... (2009), *इंसक्रिप्शंस ऑफ़ अशोक* का अनुवाद, पब्लिकेशन डिविज़न, नयी दिल्ली. पाँचवाँ संस्करण.

डेविड किंग्सले (1986), *हिंदू गॉडेसिज़ : विज़न ऑफ़ दि डिवाइन फैमीनिन इन दि हिंदू रिलीजस ट्रेडिशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, कैलिफोर्निया; पहला भारतीय संस्करण मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली द्वारा 1987 में प्रकाशित.

डेविड किंग्सले (1997), *तांत्रिक विज़ंस ऑफ़ द डिवाइन फैमीनिन : द टैन महाविद्याज़,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, कैलिफोर्निया, पहला भारतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली द्वारा 1998 में प्रकाशित.

डेविड गॉर्डन व्हाइट (2003), *किस ऑफ़ दि योगिनी : 'तांत्रिक सेक्स' इन इट्स साउथ एशियन कंटेक्सट ,* द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो-लंदन.

थॉमस बी. कोबर्न (1984), *देवी माहात्म्य : द क्रिस्टैलाइज़ेशन ऑफ़ द गॉडेस ट्रेडिशन,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत : अ स्टडी इन ऐंशेंट इण्डियन मैटिरिअलिज़्म,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

धर्मानंद कोसम्बी (1957), *भारतीय संस्कृति और अहिंसा,* मराठी से अनुवाद : विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकर, हेमचंद्र-मोदी पुस्तकमाला ट्रस्ट, बॉम्बे, दूसरा पुनर्मुद्रण.

धर्मेंद्र कुमार और यमुना सनी (2009), *प्रोसीलाइटाइज़ेशन इन इण्डिया : द प्रोसैस ऑफ़ हिंदुआइज़ेशन इन ट्राइबल सोसाइटीज़,* आकार बुक्स, नयी दिल्ली.

नीलिमा चितगोपेकर (1998), *एनकाउंटरिंग शिवइज़्म, द डियटी, द मिल्यू, द ऐनटूराज,* मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.

..........................(2002)(सं.), *इनवोकिंग गॉडेसिज़ : जेण्डर पॉलिटिक्स इन इण्डियन रिलीजंस,* शक्ति बुक्स-हर-आनंद पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

..........................(2002), 'द अनफ़ैटर्ड योगिनीज़', *इनवोकिंग गॉडेसिज़ : जेण्डर पॉलिटिक्स इन इण्डियन रिलीजंस,* शक्ति बुक्स, हर-आनंद पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली में प्रकाशित.

नोबोरु काराशिमा (2014)(सं.), *अ कंसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इण्डिया : इश्यूज़ ऐंड इंटरप्रेटेशंस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पद्मनाभ एस. जैनी (1991), *जेण्डर ऐंड सालवेशन : जैन डिबेट्स ऑन द स्पिरिचुअल लिबरेशन ऑफ़ वीमेन,* पहला संस्करण, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया द्वारा प्रकाशित. इसका भारतीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली द्वारा 1992 में प्रकाशित किया गया.

फीलिस ग्रैनॉफ़ (2000), 'अदर पीपुल्स रिचुअल्स : रिचुअल ऐक्लेक्टिसिज़म इन अर्ली मिडीवल इण्डियन रिलीजंस', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी,* खण्ड 28, अंक 4, अगस्त.

बबली परवीन (2014), 'द एक्लेक्टिक स्पिरिट ऑफ़ सूफ़िज़म इन इण्डिया : एन अप्रेज़ल', *सोशल साइंटिस्ट,* खण्ड 42, अंक 11-12, नवम्बर-दिसम्बर.

ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय (1998), *रिप्रेज़ेंटिंग दि अदर? संस्कृत सोर्सेज़ ऐंड दि मुस्लिम्स,* मनोहर, नयी दिल्ली.

..........................(2014/15), *इंटैरोगेटिंग युनिटी ऐंड डायवर्सिटी* : वॉयसेज़ फ्रॉम इण्डियाज़ ऐंशेंट टेक्स्ट्स', इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस की हीरक जयंती के अवसर पर 2014 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में दिया गया अध्यक्षीय वक्तव्य, *प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस,* 75 वां सत्र, अलीगढ़.

बी.एन. गोस्वामी (2014/15), *द स्पिरिट ऑफ़ इण्डियन पेंटिंग: क्लोज़ एनकाउंटर्स विद 101 ग्रेट वर्क्स, 1100-1900,* एलेन लेन—पेंगुइन बुक्स इण्डिया, नयी दिल्ली.

महाभारत, VI. (आरण्यकपर्व) 131.10 : अनुवाद : बिबेक देबरॉय (2011), द *महाभारत,* पेंगुइन बुक्स इण्डिया, नयी दिल्ली, भाग तीन. हमने यहाँ इसी अंग्रेज़ी अनुवाद का अनुवाद किया गया है.

महेश्वर नियोग (1984), *रिलीजंस ऑफ़ दि नॉर्थ ईस्ट,* नयी दिल्ली.

माइकेल डब्ल्यू. मीस्टर (2000)(सं.), *एथनॉग्रैफ़ी ऐंड पसर्नहुड : नोट्स फ्रॉम द फ़ील्ड,* रावत पब्लिकेशंस, जयपुर.

मासाकाज़ू तनाका और मुसाशी ताचिकावा (1999)(सं.), *लिविंग विद शक्ति : जेण्डर, सेक्सुअलिटी ऐंड रिलीजन इन साउथ एशिया,* नेशनल म्यूज़ियम ऑफ़ एथनॉलजी, ओसाका.

मिराण्डा शॉ (1994), *द पैशनेट एनलाइटनमेंट: वीमेन इन तांत्रिक बुद्धिज़्म,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन. भारतीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली द्वारा 1998 में प्रकाशित.

.... (2006), *बुद्धिस्ट गॉडेसिज़ ऑफ इण्डिया,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन. भारतीय पुनर्मुद्रण 2007 में मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली द्वारा.

राजन गुरुक्कल (1987), 'फ्रॉम रॉयल्टी ऑफ़ आइकन टु द डिविनिटी ऑफ़ वैष्णव आइकंस ऐंड किंगशिप इन मिडीवल साउथ इण्डिया', रतन पारिमू (सं.), *वैष्णविज़्म इन इण्डियन आर्ट ऐंड कल्चर,* बुक्स ऐंड बुक्स, नयी दिल्ली में प्रकाशित.

.................(2010), *सोशल फॉर्मेशंस ऑफ़ अर्ली साउथ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रामभूषण प्रसाद सिंह (1975), *जैनिज़्म इन अर्ली मिडीवल कर्णाटक,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

रामशरण शर्मा (2002), 'मैटिरिअल मिल्यू ऑफ़ तांत्रिसिज़्म', डी.एन. झा (सं.), *द फ़्यूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी ऐंड आइडियॉलॉजी इन अर्ली मिडीवल इण्डिया,* मनोहर, नयी दिल्ली में प्रकाशित.

राणा पी.बी. सिंह (सं.)(2010), *सैक्रेड ज्यॉग्रफ़ी ऑफ़ गॉडेसिज़ इन साउथ एशिया: एसेज़ इन मैमोरी ऑफ़ डेविड किंसले,* केम्ब्रिज स्कॉलर्स पब्लिशिंग, न्यूकासल अपॉन टाइन, यूके.

रामेश्वरप्रसाद शर्मा पाण्डेय (1977), *राजशेखर और उनका युग,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना.

रिचर्ड एच. डेविस (1994), 'ट्रॉफ़ीज़ ऑफ़ वार: द केस ऑफ़ चालुक्य इंट्रूडर', *पर्सेप्शंस ऑफ़ साउथ एशियाज़ विज़ुअल पास्ट,* कैथरीन बी. ऐशर और थॉमस आर. मेटकाफ़ (सं.), ऑक्सफ़र्ड तथा आइबीएच पब्लिशिंग कंपनी प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली-कलकत्ता में प्रकाशित.

रिचर्ड एच. डेविस (1998), 'द स्टोरी ऑफ़ द डिस्एपीयरिंग जैन्ज़ : रीटैलिंग द शैव-जैन एनकाउंटर इन मिडीवल साउथ इण्डिया', जॉन ई. कॉर्ट (सं.), *ओपन बॉउन्ड्रीज़: जैन कम्युनिटीज़ ऐंड कल्चर्स इन इण्डियन हिस्ट्री,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी में प्रकाशित.

रिचर्ड एम. ईटन (1974), 'सूफ़ी फोक लिटरेचर ऐंड एक्सपेंशन ऑफ़ इण्डियन इस्लाम', *हिस्ट्री ऑफ़ रिलीजंस,* खण्ड 14, अंक 2, नवम्बर.

....................(2000), *एसेज़ ऑन इस्लाम ऐंड इण्डियन हिस्ट्री,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

.... (2002), 'टेम्पल डेसीक्रेशन ऐंड इण्डो-मुस्लिम स्टेट्स', डेविड गिलमार्टिन और ब्रूस बी. लॉरेंस (सं.), *बियॉन्ड तुर्क ऐंड हिंदू: रीथिंकिंग रिलीजस आइडेंटिटीज़ इन इस्लामीकेट साउथ इण्डिया,* युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ फ़्लोरिडा, फ़्लोरिडा.

.... (2003)(सं.), *इण्डियाज़ इस्लामिक ट्रेडिशंस,* 711-1750, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रिचर्ड डी. मान (2012), *द राइज़ ऑफ़ महासेन: द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ स्कंद-कार्त्तिकेय इन नॉर्थ इण्डिया फ्रॉम द कुषाण टू गुप्त एम्पायर्स,* ब्रिल, लाईडन-बॉस्टन.

रोमिला थापर (2004), *सोमनाथ: द मैनी वॉयसेज़ ऑफ़ हिस्ट्री,* पेंगुइन/वाइकिंग, नयी दिल्ली.

................(2015), 'डेस्ट्रोइंग श्राइंस', *फ्रंटलाइन,* 9 जनवरी.

वसुधा नारायणन (2000), 'रिलीजस वॉकैब्युलरी ऐंड रीज़नल आइडेंटिटी: अ स्टडी ऑफ़ *चिरप्पुराणम्*', डेविड गिलमार्टिन और ब्रूस बी. लॉरेंस (सं.), *बियॉन्ड तुर्क ऐंड हिंदू: रीथिंकिंग रिलीजस आइडेंटिटीज़ इन इस्लामिक साउथ एशिया,* युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ फ्लोरिडा, गैंसविले. इसका भारतीय संस्करण इण्डिया रिसर्च प्रेस, नयी दिल्ली द्वारा 2002 में प्रकाशित किया गया.

वाश ऐडवर्ड हेल (1986), *असुर इन अर्ली वैदिक रिलीजन,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

विजया रामास्वामी (1996), *डिविनिटी ऐंड डेवियंस: वीमेन इन वीरशैविज़्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विद्या दहेजिया (1986), *योगिनी कल्ट ऐंड टेम्पल्स, अ तांत्रिक ट्रेडिशन,* नेशनल म्यूज़ियम, नयी दिल्ली.

.... (2007), *हिस्टॉरिकल डिक्शनरी ऑफ़ द तमिल्स,* द स्केअरक्रॉ प्रेस, मैरीलैण्ड–टोरॉनटो.

वेंडी डोनीगर ओ'फ़्लाहर्टी (1973), *एसेटिसिज़्म ऐंड इरॉटिसिज़्म इन द मायथॉलजी ऑफ़ शिव,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सबा नक़वी (2012), *इन गुड फेथ : अ जर्नी इन सर्च ऑफ़ ऐन अननॉन इण्डिया,* रूपा पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

सुकुमारी भट्टाचारजी (1970), *द इण्डियन थियोगॉनी : अ कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ़ द इण्डियन मायथॉलॅजी फ़्रॉम द वेदाज़ टु पुराणाज़,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सूसन बेली (1989), *सेंट्स, गॉडेसिज़, ऐंड किंग्ज़ : मुस्लिम्स, क्रिश्चियंस इन साउथ इण्डियन सोसाइटी, 1700–1900,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

स्टीवन जे. रोज़ेन (1996) (सं.), *वैष्णवी: वीमेन ऐंड द वर्शिप ऑफ़ कृष्ण,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

स्मृति हरिचरण और नरेश कीर्ति (2014), 'कैन द तिनाई हैल्प अण्डरस्टैंड द आयरन ऐज अर्ली हिस्टॉरिक लैण्डस्केप ऑफ़ तमिलनाडु ?', *वर्ल्ड आर्केयोलॉजी,* खण्ड 46, अंक 5, दिसम्बर.

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (1998), *भाषा, साहित्य और देश,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण.

हिमांशु प्रभा रे तथा कपिला वात्स्यायन (सं.)(2007), *सैक्रेड लैण्डस्केप्स इन एशिया: शेयर्ड ट्रेडिशंस, मल्टीपल हिस्ट्रीज़,* मनोहर, नयी दिल्ली.

हिमांशु प्रभा रे (2014), 'दि आर्कियोलॅजी ऑफ़ सैक्रेड स्पेसेज़ इन इण्डिया : फ़्रॉम मल्टी-रिलीजस साइट्स टू मॉन्यूमेंट्स', *पुरातत्त्व,* संख्या 44.

हेड्रन ब्रॅकनेर, एन्नी फेल्डहोस, आदित्य मलिक और अन्य (2004)(सं.), *सोंथाइमर एसेज़ ऑन रिलीजन, लिटरेचर ऐंड लॉ,* मनोहर, नयी दिल्ली.